प्रकाशक—

सरस्वती आश्रम,

२२१ कूंचा बुलाकी बेगम, दिल्ली ।

श्रीमान्...............

सरस्वती आश्रम का पहला पवित्र ग्रन्थ ब्राह्मण गीता आपके हाथ में है । इस गीता की महानता को आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं ।

आपका कर्तव्य है इसे भारी संख्या में मंगावे और अपने मित्रों को एक प्रति लेने के लिये प्रेरित करें ।

मुद्रक—

कुमार प्रिन्टिङ्ग प्रेस,

बाजार गुलियां, दिल्ली ।

दो शब्द

यह सर्व मान्य सिद्धान्त है कि महर्षि वेदव्यास प्रणीत महा भारत भारतीय ज्ञान विज्ञान का अक्षय भंडार है। यह उक्ति सर्वथा सत्य है, कि महाभारतकार ने इस ग्रन्थ में सब ही विषयों का दिग्दर्शन कराया है अध्यात्म विषय तो इसमें कूट कूट कर भरा हुआ है। कहीं भीष्म पितामह ने उपदेश दिया है, कहीं ऋषियों ने ज्ञान का स्रोत बहाया है और कहीं पर भगवान कृष्ण ने स्वयं ज्ञान-गंगा में अर्जुन को गोते दिये हैं। विश्व विख्यात श्री मद्भगवद्गीता इसी महाभारत रूपी महा सागर का एक अनुपम रत्न है। पारखियों ने इस रत्न को बहुत प्राचीन काल में ही परख लिया था, और तब से ही यह ग्रन्थ सर्वमान्य हो गया है। भारतीय प्राचीन प्रायः सभी धर्माचार्यों ने इस पर टीकायें लिखी थीं।

भगवद्गीता के स्वाध्यायी यह जानते हैं कि भगवद्गीता श्री कृष्ण जी का वह उपदेश है जो श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को रण-स्थली में दिया था. और उसका मुख्य उद्देश्य रणविमुख अर्जुन को रण में प्रवृत करना था। इसलिये वह तात्कालिक उपदेश था। इसके अनन्तर युद्ध समाप्ति पर जब सब ओर शांति स्थापित हो गई और श्री कृष्ण जी ने द्वारिका प्रस्थान की तैयारी की उस समय अर्जुन के हृदय में धर्म की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। तब श्री कृष्ण जी ने जो उपदेश दिया वह ब्राह्मण गीता के नाम से विख्यात है। यह गीता महाभारत के अश्वमेधपर्व में सोलहवें अध्याय से चौतीसवें अध्याय तक है।

यह गीता ब्राह्मण तथा ब्राह्मणी के सम्वाद रूप में है इसलिये इसका नाम ब्राह्मण गीता है। हमें यह लिखने में तनिक भी संकोच नहीं है कि ब्राह्मण गीता श्रीमद्भगवद्गीता से किसी अंश में भी कम नहीं है प्रत्युत उससे बढ़ कर है इसका मुख्य कारण यह है कि यह उपदेश अर्जुन की जिज्ञासा पर शान्त वायु मंडल में दिया गया है। हम निःसंदेह कह सकते हैं कि निम्न लिखित श्लोक ब्राह्मण गीता के लिये भी उसी प्रकार उपयुक्त हैं जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के लिये।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धंगीतामृतम् पयः ॥

इस गीता का प्रतिपाद्य विषय यह है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में करके निष्काम् कर्म तथा ज्ञान द्वारा लोक और परलोक में कल्याण प्राप्त करे।

हमें पूर्ण आशा है कि सज्जन गण इस गीता का स्वाध्याय कर अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये यत्न शील होंगे।

यदि जनता ने इसे अपनाया तो हम बहुत शीघ्र ही उन रत्नों को भी प्रकाशित करेंगे जो अब तक इस ब्राह्मण गीतावत् भारत-रूपी ज्ञानवारिधि में छिपे हुए हैं।

परमपिता परमात्मा का अत्यन्त धन्यवाद है उसकी अपार कृपा से अनेक विघ्न बाधाओं के उपस्थित होने पर भी हम इसके प्रकाशन में समर्थ हुए।

वसंत पंचमी
१९९२ वि०

व्यासदेव शर्मा

॥ ओम् ॥

ब्राह्मण गीता

प्रथम—अध्याय

जनमेजय उवाच—

सभायां वसतोस्तत्र निहत्यारीन्महात्मनोः।
केशवार्जुनयोः का नु कथा समभवद् द्विज ॥१॥

जनमेजय ने कहा—हे ब्राह्मण! शत्रुओं का नाश करने के अनन्तरमहल में रहते हुये महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन का क्या वार्तालाप हुआ ॥१॥

वैशम्पायन उवाच—

कृष्णेन सहितः पार्थः स्वं राज्यं प्राप्य केवलम्।
तस्यां सभायां दिव्यायां विजहार मुदा युतः ॥२॥

वैशम्पायन बोले—अर्जुन अपने राज्य को प्राप्त करके उस अत्यन्त सुन्दर महल में श्रीकृष्ण जी के सहित आनन्द पूर्वक रहने लगे ॥२॥

तत्र कंचित्सभोद्देशं स्वर्गोद्देशसमं नृप।
यदृच्छया तौ मुदितौ जग्मतुः स्वजनावृतौ ॥३॥

एक समय वे दोनों अत्यन्त प्रसन्न तथा अपने सम्बन्धियों सहित उस महल के स्वर्ग के समान एक रमणीक स्थान में गये ॥३॥

ततः प्रतीतः कृष्णेन सहितः पाण्डवोऽर्जुनः ।
निरीक्ष्य तां सभां रम्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥४॥

उसके अनन्तर श्रीकृष्ण जी के सहित अर्जुन महल के उस रमणीक स्थान को देख कर यह बोला ॥४॥

विदितं मे महाबाहो संग्रामे समुपस्थिते ।
माहात्म्यं देवकीमातस्तच्च ते रूपमैश्वरम् ॥५॥

''हे देवकी पुत्र महावीर ! युद्ध के आदि में जो आपने मुझे अपना दिव्य रूप तथा माहात्म्य दिखलाया था वह मुझे ज्ञात है ॥५

यत्तद्भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात् ।
तत्सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे व्यग्रचेतसः ॥६॥

किन्तु पुरुषों में श्रेष्ठ हे केशव ! मित्रता के कारण जो कुछ आपने मुझे उपदेश दिया था वह सब चित्त की चंचलता से मैं भूल गया हूँ ॥६॥

मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः ।
भवांस्तु द्वारकां गन्ता नचिरादिव माधव ॥७॥

अब आप शीघ्र ही द्वारका जाने वाले हैं और उन विषयों के जानने की मेरे हृदय में बार २ उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है ॥७॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु तं कृष्णः फाल्गुनं प्रत्यभाषत ।
परिष्वज्य महातेजा वचनं वदतां वरः ॥८॥

वैशम्पायन बोले यह सुन कर भाषण करने में चतुर तथा तेजस्वी श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन का आलिङ्गन करके यह कहा ॥८॥

वासुदेव उवाच—

श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम् ।
धर्मं स्वरूपिणं पार्थ सर्वलोकांश्च शाश्वतान् ॥९॥

श्रीकृष्ण बोले हे अर्जुन ! मैंने तुम्हें अत्यन्त गोपनीय तथा सनातन सम्पूर्ण धर्म का तथा नित्य लोकों का उपदेश किया था ।९

अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम् ।
न च साऽद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे संभविष्यति ॥१०॥

किन्तु मन्द बुद्धि होने से तुमने उसको धारण नहीं किया यह मुझे अच्छा नहीं प्रतीत होता, और आज वह उपदेश मुझे भी याद नहीं है ॥१०॥

नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव ।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनंजय ॥११॥

हे अर्जुन ! तू श्रद्धा तथा बुद्धि से रहित है मैं आज उस सम्पूर्ण उपदेश को फिर कहने में असमर्थ हूँ ॥११॥

स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने ।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ॥१२॥

वह उपदेश ब्रह्म के प्राप्त करने में पर्याप्त था किन्तु मैं आज उस सम्पूर्ण उपदेश को दुबारा नहीं कह सकूंगा ॥१२॥

परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया ।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम् ॥१३॥

उस समय समाधिस्थ होकर मैंने परब्रह्म का उपदेश दिया था और अब उसी विषय को स्पष्ट करने के लिये तुम्हें एक प्राचीन उपाख्यान सुनाऊंगा ॥१३॥

यथा तां बुद्धिमास्थाय गतिमग्र्यां गमिष्यसि ।
शृणु धर्मभृतां श्रेष्ठ गदितं सर्वमेव मे ॥१४॥

हे धर्मात्माओं में श्रेष्ठ ! तुम उस उपदेश को सुनकर ज्ञान को प्राप्त करके उत्तम गति को प्राप्त होगे, इसलिये उस सम्पूर्ण उपाख्यान को सुनो ॥१४॥

आगच्छद्ब्राह्मणः कश्चित् स्वर्गलोकादरिन्दम ।
ब्रह्मलोकाच्च दुर्धर्षः सोऽस्माभिः पूजितोऽभवत् ॥१५॥

हे शत्रुओं का नाश करनेवाले अर्जुन ! एकबार एक श्रेष्ठ ब्राह्मण स्वर्गलोक तथा ब्रह्मलोक से लौटकर आये और हम लोगों ने उनका आदर सत्कार किया ॥१५॥

अस्माभिः परिपृष्टश्च यदाह भरतर्षभ ।
दिव्येन विधिना पार्थ तच्छृणुष्वाविचारयन् ॥१६॥

हे भरत श्रेष्ठ ! जब हम लोगों ने श्रद्धा भक्ति से उनसे पूछा तब जो उपदेश उन्होंने दिया उसको तुम निश्चल मति होकर सुनो

ब्राह्मण उवाच—

मोक्षधर्मं समाश्रित्य कृष्ण यन्मामपृच्छथाः ।
भूतानामनुकम्पार्थं यन्मोहच्छेदनं विभो ॥१७॥
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि यथावन्मधुसूदन ।
शृणुष्वावहितो भूत्वा गदतो मम माधव ॥१८॥

ब्राह्मण बोला हे श्रीकृष्ण ! प्राणियों के कल्याण के लिये मोह नाशक मोक्ष धर्म के विषय में जो आपने प्रश्न किया है उसका मैं उचित रीति से उपदेश करूंगा । हे कृष्ण ! तुम उसे ध्यान पूर्वक सुनो ॥ १७—१८ ॥

कश्चिद्विप्रस्तपोयुक्तः काश्यपो धर्मवित्तमः ।
आससदा द्विजं कंचिद्धर्माणामागतागमम् ॥१९॥

एक समय एक तपस्वी तथा धर्म के जानने वाला काश्यप नामक ब्राह्मण एक बड़े धर्माचार्य्य तथा शास्त्रज्ञ ब्राह्मण के पास पहुंचा ॥१९॥

गतागते सुबहुशो ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
लोकतत्त्वार्थकुशलं ज्ञातारं सुखदुःखयोः ॥२०॥
जातीमरणतत्त्वज्ञं कोविदं पापपुण्ययोः ।
द्रष्टारमुच्चनीचानां कर्मभिर्देहिनां गतिम् ॥२१॥
चरन्तं मुक्तवत्सिद्धं प्रशान्तं संयतेन्द्रियम् ।

दीप्यमानं श्रिया ब्राह्म्या क्रममाणं च सर्वशः ॥२२॥
अन्तर्धानगतिज्ञं च श्रुत्वा तत्त्वेन काश्यपः ।
तथैवान्तर्हितैः सिद्धैर्यान्तं चक्रधरैः सह ॥२३॥
संभाषमाणमेकान्ते समासीनं च तैः सह ।
यदृच्छया च गच्छन्तमसक्तं पवनं यथा ॥२४॥
तं समासाद्य मेधावी स तदा द्विजसत्तमः ।
चरणौ धर्मकामोऽस्य तपस्वी सुसमाहितः ।
प्रतिपेदे यथान्यायं दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ॥२५॥
विस्मितश्चाद्भुतं दृष्ट्वा काश्यपस्तं द्विजोत्तमम् ।
परिचारेण महता गुरुं तं पर्यतोषयत् ॥२६॥

वह ब्राह्मण ज्ञान और विज्ञान के सागर तथा लौकिक व पारलौकिक विषय में चतुर, सुख और दुख को जानने वाले, ऊंच और नीच को समझने वाले, सत्य और पुण्य के रहस्य के ज्ञाता, तथा साँसारिक प्राणियों के कर्म की गति को प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले जितेन्द्रिय, शान्त, सिद्ध और मुक्त आत्मा की तरह से इधर उधर विचरण करने वाले एवं परमात्मा की कान्ति से युक्त थे। वे महात्मा अन्तर्धान होने की शक्ति से परिपूर्ण थे। और जिस समय वो अन्तर्धान अवस्था में सिद्ध चक्रधरों के साथ एकान्त में भाषण करते हुये अपनी इच्छा से निर्लेप वायु की तरह जा रहे थे तब मेधावी तथा ब्राह्मणों में श्रेष्ठ तपस्वी काश्यप ने उनकी इस अवस्था को जान कर तथा उनके समीप पहुंच कर और धर्म के जानने की इच्छा से विधिवत् उनकी सेवा की और उनके

इन अत्यन्त अद्भुत गुणों को देख कर द्विजों में श्रेष्ठ काश्यप अत्यन्त विस्मित हुये और उनको गुरु समझ कर सेवा से सन्तुष्ट किया ॥ २०—२६ ॥

उपपन्नं च तत्सर्वं श्रुतचारित्रसंयुतम् ।
भावेनातोषयच्चैनं गुरुवृत्त्या परन्तप ॥२७॥

ज्ञान तथा कर्म में श्रेष्ठ काश्यप की इस भक्ति को देख कर उस महात्मा ने गुरु के कर्तव्य से उसको सन्तुष्ट किया ॥२७॥

तस्मै तुष्टः स शिष्याय प्रसन्नो वाक्यमब्रवीत् ।
सिद्धिं परामभिप्रेक्ष्य शृणु मत्तो जनार्दन ॥२८॥

काश्यप से प्रसन्न होकर और उसे शिष्य समझ कर उसने यह कहा कि तुम वह उपदेश मुझ से सुनो जिससे बड़ी भारी सिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकते हो ॥२८॥

सिद्ध उवाच—
विविधैः कर्मभिस्तात पुण्ययोगैश्च केवलैः ।
गच्छन्तीह गतिं मर्त्या देवलोके च संस्थितिम् ॥२९॥

सिद्ध बोला हे शिष्य ! केवल भिन्न २ प्रकार के कर्मों से तथा पुण्यों से मनुष्य इस संसार में गति को प्राप्त होते हैं और देवलोक में निवास करते हैं ॥२९॥

न क्वचित्सुखमत्यन्तं न क्वचिच्छाश्वती स्थितिः ।
स्थानाच्च महतो भ्रंशो दुःखलब्धात्पुनः पुनः ॥३०॥

न कहीं अत्यन्त सुख है और न कहीं नित्य निवास ही होता है और बड़े कष्ट से प्राप्त करके उच्च पदवी से बारम्बार गिरना होता है ॥३०॥

अशुभा गतयः प्राप्ताः कष्टा मे पापसेवनात् ।
काममन्युपरीतेन तृष्णया मोहितेन च ॥ ३१ ॥

मैंने पापों के कारण काम, क्रोध, तृष्णा और मोह से युक्त होकर बहुत सी कष्ट देने वाली बुरी गतियों को प्राप्त किया था ॥३१

पुनः पुनश्च मरणं जन्म चैव पुनः पुनः ।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ॥

मैंने बार बार जन्म और मरण को प्राप्त किया था नाना प्रकार के भोजन किये, और तरह तरह के स्तन पिये ॥३२॥

मातरो विविधा दृष्टाः पितरश्च पृथग्विधाः ।
सुखानि च विचित्राणि दुःखानि च मयाऽनघ ॥३३॥

. बहुत सी माताएं देखी, बहुत से पिता देखे और विचित्र सुख और दुख भोगे ॥ ३३ ॥

प्रियैर्विवासो बहुशः संवासश्चाप्रियैः सह ।
धननाशश्च संप्राप्तो लब्ध्वा दुःखेन तद्धनम् ॥३४॥

अपने मित्रों में भी रहा, शत्रुओं के साथ भी रहा, और बड़े कष्ट से धन को प्राप्त करके उस धन का नाश भी देखा ॥३४॥

अवमानाः सुकष्टाश्च राजतः स्वजनात्तथा ।
शारीरा मानसा वाऽपि वेदना भृशदारुणाः ॥३५॥

बड़े आदमियों से तथा अपने सम्बन्धियों से बड़े कष्टप्रद अपमान को सहा, और शारीरिक एवं मानसिक अत्यन्त कठिन दुःख भी भोगे ॥३५॥

प्राप्ता विमाननाश्चोग्रा वधबन्धाश्च दारुणाः ।
पतनं निरये चैव यातनाश्च यमक्षये ॥३६॥

और भी तरह तरह के अपमान सहे, मृत्यु के कठिन बन्धनों को भी प्राप्त किया, नरक में गिरा और यमलोक की यातनाएं भी सहीं ॥३६॥

जरा रोगाश्च सततं व्यसनानि च भूरिशः ।
लोकेऽस्मिन्ननुभूतानि द्वन्द्वजानि भृशं मया ॥३७॥

मैंने इस संसार में द्वन्द्वों से उत्पन्न होने वाले कष्टों को, बुढ़ापे और रोगों को भी निरंतर प्राप्त किया ॥३७॥

ततः कदाचिन्निर्वेदान्निराकाराश्रितेन च ।
लोकतन्त्रं परित्यक्तं दुःखार्तेन भृशं मया ॥३८॥

इनके बाद कभी इन दुःखों से ऊब कर और अत्यन्त दुखी होकर निराकार परमात्मा की सहायता से इन साँसारिक बन्धनों का परित्याग किया ॥ ३८ ॥

लोकेऽस्मिन्ननुभूयाहमिमं मार्गमनुष्ठितः ।
ततः सिद्धिरियं प्राप्ता प्रसादादात्मनो मया ॥३९॥

संसार में इन भोगों को भोग कर मैंने शुभ मार्ग का ग्रहण किया और तब मैंने मन को वश में कर के इस सिद्धि को प्राप्त

किया मनके ही वश में होने से अन्तर्धान आदि सिद्धियें प्राप्त होती हैं यह योग का विषय है ॥ ३९ ॥

नाहं पुनरिहागन्ता लोकानालोकयाम्यहम् ।
आसिद्धेराप्रजासर्गादात्मनोऽपि गतीः शुभाः ॥४०॥

अब मैं फिर यहां नहीं आऊंगा, और मैं संसार को तथा सृष्टि की आदि से लेकर मुक्ति पर्यन्त तक की शुभ गतियों को देखता हूँ ॥४०॥

उपलब्धा द्विजश्रेष्ठ तथेयं सिद्धिरुत्तमा ।

हे ब्राह्मण ! इस प्रकार मैंने इस उत्तम गति को प्राप्त किया है ॥४१॥

इतः परं गमिष्यामि ततः परतर पुनः ॥४१॥
ब्रह्मणः पदमव्यक्तं मा तेऽभूदत्र संशयः ।
नाहं पुनरिहागन्ता मर्त्यलोकं परन्तप ॥४२॥

इसके अनन्तर मैं फिर इससे भी उत्कृष्ट अनिर्वचनीय ब्रह्म पद को प्राप्त करूंगा इसमें तुम्हें सन्देह नही करना चाहिये और हे तपस्वी ! मैं फिर इस मृत्युलोक में नहीं आऊंगा ॥४२॥

प्रीतोऽस्मि ते महाप्राज्ञ ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यदीप्सुरुपपन्नस्त्वं तस्य कालोऽयमागतः ॥४३॥

हे विद्वन ! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ कहो ! मैं तुम्हारा क्या उपकार करूं जिस बात की इच्छा से तुम यहां आये हो उसके पूछने का यह समय है ॥४३॥

अभिजाने च तदहं यदर्थं मामुपागतः ।
अचिरात्तु गमिष्यामि तेनाहं त्वामचूचुदम् ॥४४॥

यद्यपि मैं जानता हूँ कि तुम किस लिये आये हो तो भी क्योंकि मुझे शीघ्र यहां से जाना है इस लिये मैंने तुमको प्रेरणा की है ॥४४॥

भृशं प्रीतोऽस्मि भवतश्चारित्रेण विचक्षण ।
परिपृच्छस्व कुशलं भाषेयं यत्तवेप्सितम् ॥४५॥

हे कुशल ! मैं तुम्हारे चरित्र से अत्यन्त प्रसन्न हूँ इस लिये तुम मुझ से कल्याणकारी बात पूछो मैं तुम्हें उपदेश दूंगा ॥४५॥

बहु मन्ये च ते बुद्धिं भृशं संपूजयामि च ।
येनाहं भवता बुद्धो मेधावी ह्यसि काश्यप ॥४६॥

मैं तुम्हारी बुद्धि की बड़ी प्रशंसा करता हूँ और उसकी पूजा करता हूँ क्योंकि तुमने मुझको पहचान लिया है इस लिये हे ! काश्यप तुम निस्संदेह बुद्धिमान् हो ॥ ४६ ॥

यह श्री ब्राह्मण उपनिषद् गीता का प्रथमाध्याय समाप्त हुआ ।

द्वितीय अध्याय

वासुदेव उवाच—

ततस्तस्योपसंगृह्य पादौ प्रश्नान्सुदुर्वचान् ।
पप्रच्छ तांश्च धर्मान्स प्राह धर्मभृतां वरः ॥१॥

श्री कृष्ण जी बोले ! इसके अनन्तर उस महात्मा के चरणों को छू कर धर्मात्माओं में श्रेष्ठ काश्यप ने अत्यन्त कठिन तथा धर्म से युक्त प्रश्न किये ॥१॥

काश्यप उवाच—

कथं शरीरं च्यवते कथं चैवोपपद्यते ।
कथं कष्टाच्च संसारात्संसरन्परिमुच्यते ॥२॥

काश्यप बोले भगवन ! किस प्रकार ये जीवात्मा शरीर को छोड़ता है और किस प्रकार इस शरीर को धारण करता है और किस प्रकार इस दुःख रूपी संसार में आकर उससे छूटता है ॥२

आत्मा च प्रकृतिं मुक्त्वा तच्छरीरं विमुञ्चति ।
शरीरतश्च निर्मुक्तः कथमन्यत्प्रपद्यते । ॥३॥

जीवात्मा, प्रकृति अर्थात् बन्धन के कारण का परित्याग करके कैसे उस शरीर को छोड़ता है और शरीर को छोड़ कर परब्रह्म को किस प्रकार प्राप्त करता है ॥३॥

कथं शुभाशुभे चायं कर्मणी स्वकृते नरः ।
उपभुङ्क्ते क्व वा कर्म विदेहस्यावतिष्ठते ॥४॥

किस प्रकार जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मों का भोग करता है और जब वह जीवन्मुक्त होता है तब कर्म कहां रहते हैं ॥४॥

एवं संचोदितः सिद्धः प्रश्नांस्तान्प्रत्यभाषत ।
आनुपूर्व्येण वार्ष्णेय तन्मे निगदतः शृणु ॥५॥

इस प्रकार प्रश्न करने पर उस 'सिद्ध' ने जो उत्तर दिया उसको हे कृष्ण तुम यथावत् सुनो ॥५॥

सिद्ध उवाच—

आयुःकीर्तिकराणीह यानि कृत्यानि सेवते ।
शरीरग्रहणे यस्मिंस्तेषु क्षीणेषु सर्वशः ॥६॥
आयुःक्षयपरीतात्मा विपरीतानि सेवते ।
बुद्धिर्व्यावर्तते चास्य विनाशे प्रत्युपस्थिते ॥७॥

सिद्ध बोला, आयु और कीर्ति के बढ़ाने वाले जिन कर्मों को शरीर ग्रहण करने पर जीवात्मा करता है उनके नष्ट हो जाने पर, क्षीण आयु होकर जीवात्मा उलटे कर्म करने लगता है और विनाश काल आने पर इसकी बुद्धि उलटी हो जाती है ॥६-७॥

सत्त्वं बलं च कालं च विदित्वा चात्मनस्तथा ।
अतिवेलमुपाश्नाति स्वविरुद्धान्यनात्मवान् ॥८॥

तब अपनी बुद्धि, बल, और समय को जानता हुआ भी असमय और अपनी प्रकृति के विरुद्ध भोजन करता है और ऐसा प्रतीत होता है कि इसे अपना कुछ ज्ञान नहीं है ॥८॥

यदायमतिकष्ठानि सर्वाण्युपनिषेवते ।
अत्यर्थमपि वा भुङ्क्ते न वा भुङ्क्ते कदाचन ॥९॥

और जिस समय जीवात्मा को बहुत से कष्ट उपस्थित होते हैं तब या तो बहुत अधिक भोजन करता है या बिल्कुल भोजन नहीं करता है ॥९॥

दुष्टान्नामिषपानं च यदन्योन्यविरोधि च ।
गुरु चाप्यमितं भुङ्क्ते नातिजीर्णे दिवा पुनः ॥१०॥

एक दूसरे का विरोधी अर्थात् विषम भोजन जैसे बुरा अन्न, मांस, तथा मदिरा का सेवन करने लगता है और बहुत अधिक गरिष्ठ भोजन तथा अजीर्ण में भोजन करता है ॥१०॥

व्यायाममतिमात्रं च व्यवायं चोपसेवते ।
सततं कर्मलोभाद्वा प्राप्तं वेगं विधारयेत् ॥११॥

बहुत अधिक व्यायाम करता है। बहुत अधिक स्त्री प्रसंग करता है। और कर्मों के लोभ से मल मूत्रादि के वेग को रोकता है ॥११

रसाभियुक्तमन्नं वा दिवा स्वप्नं च सेवते ।
अपक्वानागते काले स्वयं दोषान्प्रकोपयेत् ॥१२॥

कभी नीरस तथा अधिक रसवाले भोजन करता है। कभी दिन में सोता है। और इस प्रकार असमय में ही अपने वात, पित्त, तथा कफ से उत्पन्न होने वाले दोषों को प्रकुपित कर देता है ॥१२॥

स्वदोषकोपनाद्रोगं लभते मरणान्तिकम् ।
अपि वोद्बन्धनादीनि परीतानि व्यवस्यति ॥१३॥

इस प्रकार दोषों के प्रकुपित होने से जीवात्मा प्राण नाशक रोगों को प्राप्त करता है या उटपटांग काम करने लगता है ॥१३॥

तस्य तैः कारणैर्जन्तोः शरीरं च्यवते तदा ।
जीवितं प्रोच्यमानं तद्यथावदुपधारय ॥१४॥

इन कारणों से शरीर नष्ट हो जाता है। और जीवात्मा इस शरीर को किस प्रकार छोड़ देता है उसे तुम ध्यान पूर्वक सुनो १४

ऊष्मा प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः ।
शरीरमनुपर्येत्य सर्वान्प्राणान् रुणद्धि वै । ॥१५॥

शरीर में तीव्र वायु से प्रेरित हुआ पित्त सम्पूर्ण शरीर में फैल कर प्राणों को रोकने लगता है ॥१५॥

अत्यर्थं बलवानुष्मा शरीरे परिकोपितः ।
भिनत्ति जीवस्थानानि मर्माणि विद्धि तत्त्वतः॥१६॥

पित्त अत्यन्त बलवान् एवं कुपित होकर जीवात्मा के रहने के मर्म स्थानों में अत्यन्त कष्ट पहुंचाता है यह निश्चय से जानो ॥१६

ततः सवेदनः सद्यो जीवः प्रच्यवते क्षरात् ।
शरीरं त्यजते जन्तुश्छिद्यमानेषु मर्मसु ॥१७॥

फिर शरीर के मर्म स्थानों में कष्ट होने के कारण अत्यन्त दुखी जीव इस शरीर को छोड़ देता है ॥१७॥

वेदनाभिः परीतात्मा तद्विद्धि द्विजसत्तम ।
जातीमरणसंविग्नाः सततं सर्वजन्तवः ॥१८॥

हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! सब जीवात्मा कष्टों से दुखी हुए हुवे इस जन्म मरण के बन्धन में पड़े हुवे हैं ऐसा समझो ॥१८॥

दृश्यन्ते संत्यजन्तश्च शरीराणि द्विजर्षभ ।
गर्भसंक्रमणे चापि मर्मणामतिसर्पणे ॥१९॥

हे द्विजों में श्रेष्ठ ! जीवात्मा इसी प्रकार गर्भों में जाने पर तथा शरीर के छोड़ने पर अत्यन्त कष्ट को प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

तादृशीमेव लभते वेदनां मानवः पुनः ।
भिन्नसंधिरथ क्लेदमद्भिः स लभते नरः ॥२०॥

मनुष्य इसी प्रकार से वैसी ही मर्म भेदनी पीड़ा को शरीरस्थ कफ से प्राप्त होता है ॥ २० ॥

यथा पञ्चसु भूतेषु संभूतत्वं नियच्छति ।
शैत्यात्प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः ॥२१॥
यः स पञ्चसु भूतेषु प्राणापाने व्यवस्थितः ।
स गच्छत्यूर्ध्वगो वायुः कृच्छ्रान्मुक्त्वा शरीरिणः॥२२

जब पंच भूत का मेल नष्ट होता है तब शीत से प्रकुपित होकर और तीक्ष्ण वायु से प्रेरित होकर जो ऊर्ध्व गति वायु है और जो वायु पंच भूतों में प्राण अपान के रूप में स्थित है वह कष्ट से शरीर का छोड़ कर निकल जाता है ॥२१—२२

शरीरं च जहात्येवं निरुच्छ्वासश्च दृश्यते ।
स निरूष्मा निरुच्छ्वासो निःश्रीको हतचेतनः॥२३

इस प्रकार उसके निकल जाने पर वह शरीर निस्तेज चेतना रहित ठंडा और श्वास हीन हो जाता है ॥२३॥

ब्रह्मणा संपरित्यक्तो मृत इत्युच्यते नरः ।
स्रोतोभिर्यैर्विजानाति इन्द्रियार्थान् शरीरभृत् ॥२४
तैरेव न विजानाति प्राणानाहारसंभवान् ।
तत्रैव कुरुते काये यः स जीवः सनातनः ॥२५॥

जीवात्मा के निकल जाने पर यह शरीर मृत कहलाता है और जीवात्मा जिन इन्द्रियों से रूप, रस, गंध आदि इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करता है उनसे आहारसम्भूत प्राणों को नहीं जान सकता। जो वस्तु प्राणों को शरीर में धारण कराती है वही नित्य जीवात्मा है ॥२४-२५॥

तथा यद्यद्भवेद्युक्तं सन्निपाते क्वचित् क्वचित् ।
तत्तन्मर्म विजानीहि शास्त्रदृष्टं हि तत्तथा ॥२६॥

शास्त्र का कथन यह है कि शरीर में जितनी भी संधियें हैं वे ही मर्म स्थान हैं यह जानना चाहिये ॥२६॥

तेषु मर्मसु भिन्नेषु ततः स समुदीरयन् ।
आविश्य हृदयं जन्तोः सत्त्वं चाशु रुणद्धि वै ।
ततः सचेतनो जन्तुर्नाभिजानाति किंचन ॥२७॥

उन मर्मस्थानों के नष्ट होने पर वह जीवात्मा ऊपर को निकलता हुआ हृदय में प्रविष्ट होकर बुद्धि को शीघ्र नष्ट करता है फिर वह सचेतन प्राणी भी ज्ञान रहित होता है ॥ २७ ॥

तमसा संवृतज्ञानः संवृतेष्वेव मर्मसु।
स जीवो निरधिष्ठानश्चाल्यते मातरिश्वना ॥२८॥

जब ज्ञान के ऊपर तम का आवरण आ जाता है और मर्मस्थान भी इसी प्रकार से ढक जाते हैं तब निराधार जीव को वायु चलायमान कर देता है ॥ २८ ॥

ततः स तं महोच्छ्वासं भृशमुच्छ्वस्य दारुणम्।
निष्क्रामन्कम्पयत्याशु तच्छरीरमचेतनम् ॥२९॥

उस समय जीवात्मा लम्बी सांस को बार बार छोड़कर इस अचेतन शरीर को कंपाता है और बाहर निकल जाता है ॥ २९ ॥

स जीवः प्रच्युतः कायात्कर्मभिः स्वैः समावृतः।
अभितः स्वैः शुभैः पुण्यैः पापैर्वाऽप्युपपद्यते ॥३०॥

यह जीवात्मा इस शरीर से पृथक् होकर शरीर में किये हुए शुभाशुभ कर्मों को प्राप्त होता है और कर्मानुसार शरीर को धारण करता है ॥ ३० ॥

ब्राह्मणा ज्ञानसंपन्ना यथावच्छ्रुतनिश्चयाः।
इतरं कृतपुण्यं वा तं विजानन्ति लक्षणैः ॥३१॥

ज्ञानी तथा बहुश्रुत ब्राह्मण उसके लक्षणों से यह जान लेते हैं कि उसने पूर्व जन्म में पुण्य किया था या पाप ॥ ३१ ॥

यथान्धकारे खद्योतं लीयमानं ततस्ततः।
चक्षुष्मन्तः प्रपश्यन्ति तथा च ज्ञानचक्षुषः ॥३२॥

पश्यन्त्येवंविधं सिद्धा जीवं दिव्येन चक्षुषा ।
च्यवन्तं जायमानं च योनिं चानुप्रवेशितम् ॥३३॥

जिस प्रकार अन्धेरे में छिपे हुये तथा इधर उधर घूमते हुये पटबीजने को आंखों वाले देख लेते हैं इसी प्रकार ज्ञानी तथा सिद्ध पुरुष अपने दिव्य नेत्रों से जीवात्मा के जन्म मरण तथा गर्भप्रवेश को देखते हैं ॥ ३२ ३३ ॥

तस्य स्थानानि दृष्टानि त्रिविधानीह शास्त्रतः ।
कर्मभूमिरियं भूमिर्यत्र तिष्ठन्ति जन्तवः ॥३४॥

शास्त्र के अनुसार जीवात्मा के ये तीन प्रकार के स्थान हैं जहां पर जीवात्मा निवास करते हैं ये कर्म भूमि है ॥ ३४ ॥

ततः शुभाशुभं कृत्वा लभन्ते सर्वदेहिनः ।
इहैवोच्चवाचान भोगान् प्राप्नुवन्ति स्वकर्मभिः॥३५॥

सम्पूर्ण जीवात्मा अच्छे और बुरे कर्म करके अपने कर्मों के अनुसार ऊंच और नीच भोगों को यहां ही प्राप्त करते हैं ॥ ३५ ॥

इहैवाशुभकर्माणः कर्मभिर्निरयं गताः ।
अवाग्गतिरियं कष्टा यत्र पच्यन्ति मानवाः ।
तस्मात्सुदुर्लभो मोक्षो रक्ष्यश्चात्मा ततो भृशम्॥३६॥

और अशुभ कर्म करने वाले पुरुप यहीं पर कर्मों के अनुसार नरक को प्राप्त होते हैं यह अधोगति मनुष्यों के लिये दुःख कर होती है इसलिये मोक्ष बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है अतः आत्मा को इस अधोगति से बचाना चाहिये ॥ ३६ ॥

ऊर्ध्वं तु जन्तवो गत्वा येषु स्थानेष्ववस्थिताः ।
कीर्त्यमानानि तानीह तत्त्वतः संनिबोध मे ॥३७॥

प्राणी ऊर्ध्व गति को प्राप्त करके जहां जाते हैं उसका मैं वर्णन करता हूँ तुम ध्यान पूर्वक सुनो ! ॥ ३७ ॥

तच्छ्रुत्वा नैष्ठिकीं बुद्धिं बुद्ध्येथाः कर्मनिश्चयम् ।
तारारूपाणि सर्वाणि यत्रैतच्चन्द्रमण्डलम् ॥३८॥
यत्र विभ्राजते लोके स्वभासा सूर्यमण्डलम् ।
स्थानान्येतानि जानीहि जनानां पुण्यकर्मणाम् ॥३९॥

उसको सुनकर तुम्हारी समझ मे कर्म की गति आ जावेगी सम्पूर्ण तारे चन्द्रमा और सूर्य जहां अपनी कान्ति से प्रकाशित होता है उन स्थानों को तुम पुण्यात्मा जीवों का स्थान समझो ॥ ३८ ३९ ॥

कर्मक्षयाच्च ते सर्वे च्यवन्ते वै पुनः पुनः ।
तत्रापि च विशेषोऽस्ति दिवि नीचोच्चमध्यमः ॥४०॥

कर्मों के नष्ट होजाने से वे फिर इस भूमंडल पर आते हैं और वहां स्वर्ग में भी उत्तम मध्यम और अधम ये तीन गति हैं ॥४०॥

न च तत्रापि सन्तोषो दृष्ट्वा दीप्ततरां श्रियम् ।
इत्येता गतयः सर्वाः पृथक्त्वे समुदीरिताः ॥४१॥

वहां पर भी अत्यन्त प्रकाशमान तेज को देखकर जीवात्मा सन्तुष्ट नहीं होते किन्तु परस्पर ईर्ष्या करते हैं, इस प्रकार हमने पृथक् २ इन गतियों का वर्णन किया है ॥ ४१ ॥

उपपत्तिं तु वक्ष्यामि गर्भस्याहमतः परम् ।
तथा तन्मे निगदतः शृणुष्वावहितो द्विज ॥४२॥

हे ब्राह्मण ! अब हम इसके अनन्तर जीवात्मा किस प्रकार से गर्भ में जाता है इसका वर्णन करेंगे तुम ध्यान पूर्वक श्रवण करो ॥ ४२ ॥

श्री ब्राह्मण गीता का दूसरा अध्याय समाप्त

तीसरा अध्याय

ब्राह्मण उवाच—

शुभानामशुभानां च नेह नाशोऽस्ति कर्मणाम् ।
प्राप्य प्राप्यानुपच्यन्ते क्षेत्रं क्षेत्रं तथा तथा ॥१॥

सिद्ध ब्राह्मण ने कहा । हे काश्यप ! इस संसार में अच्छे और बुरे कर्मों का नाश कभी नहीं होता और जीवात्मा जन्म जन्मान्तरों को प्राप्त होकर कर्मों का फल भोगते है ॥१॥

यथा प्रसूयमानस्तु फली दद्यात्फलं बहु ।
तथा स्याद्विपुलं पुण्यं शुद्धेन मनसा कृतम् ॥२॥

जिस प्रकार फल वाला वृक्ष ऋतु काल में बहुत से फल देता है उसी प्रकार से बहुत से पुण्य शुद्ध मन से जीवात्मा करता है ।२

पापं चापि तथैव स्यात्पापेन मनसा कृतम् ।
पुरोधाय मनो हीदं कर्मण्यात्मा प्रवर्तते ॥३॥

और उसी तरह से अशुद्ध मन से पाप करता है क्योंकि जीवात्मा मन के ही द्वारा कर्म में प्रवृत होता है ॥३॥

यथा कर्मसमाविष्टः काममन्युसमावृतः ।
नरो गर्भं प्रविशति तच्चापि शृणु चोत्तरम् ॥४॥

जिस प्रकार काम और क्रोध से घिरा हुआ तथा कर्मों से आवृत जीव गर्भ में प्रवेश करता है उसे तुम ध्यान पूर्वक सुनो ॥४॥

शुक्रं शोणितसंसृष्टं स्त्रिया गर्भाशयं गतम् ।
क्षेत्रं कर्मजमाप्नोति शुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥५॥

रज से मिला हुआ वीर्य जब स्त्री के गर्भाशय में जाता है तब कर्मानुसार जीवात्मा अच्छी और बुरी योनियों में जाता है ।५

सौक्ष्म्यादव्यक्तभावाच्च न च क्वचन सज्जति ।
संप्राप्य ब्राह्मणः कामं तस्मात्तद्ब्रह्म शाश्वतम् ॥६॥

अत्यन्त सूक्ष्म तथा अव्यक्त होने के कारण और परमात्मा की आज्ञा से वह जीव कहीं पर लिप्त नहीं होता इस लिये जीवात्मा नित्य है ॥६॥

तद्बीजं सर्वभूतानां तेन जीवन्ति जन्तवः ।
स जीवः सर्वगात्राणि गर्भस्याविश्य भागशः ॥७॥

दधाति चेतसा सद्यः प्राणस्थानेष्ववस्थितः ।
ततः स्पन्दयतेऽङ्गानि स गर्भश्चेतनान्वितः ॥८॥

सब प्राणियों का जीव ही मूल है। और उस जीव से ही सम्पूर्ण प्राणी चेतना को धारण करते हैं। वह जीवात्मा अपनी चेतना शक्ति से गर्भ के सम्पूर्ण अंगों में प्रविष्ट होकर प्राणों के स्थान में निवास करता है फिर वह गर्भ चैतन्य युक्त होकर अंगों को हिलाता है ॥७—८॥

यथा लोहस्य निःस्यन्दो निषिक्तो बिम्बनिग्रहम् ।
उपैति तद्वज्जानीहि गर्भे जीवप्रवेशनम् ॥९॥

जिस प्रकार पिघला हुआ लोहा किसी वर्तन में डाल दिया जाता है उसी प्रकार जीव गर्भ में प्रविष्ट होता है ॥९॥

लोहपिण्डं यथा वह्निः प्रविश्य ह्यतितापयेत् ।
तथा त्वमपि जानीहि गर्भे जीवोपपादनम् ॥१०॥

जिस प्रकार लोहे के पिंड में अग्नि प्रविष्ट होकर उसे गर्म कर देती है उसी प्रकार जीवात्मा गर्भ में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण शरीर को चेतना युक्त कर देता है ॥१०॥

यथा च दीपः शरणे दीप्यमानः प्रकाशते ।
एवमेव शरीराणि प्रकाशयति चेतना ॥११॥

जैसे एक दीपक सम्पूर्ण घर को प्रकाशित कर देता है वैसे जीवात्मा अपनी चेतनता से स्थूल सूक्ष्मादि शरीरों को प्रकाशित कर देता है ॥ ११ ॥

यद्यच्च कुरुते कर्म शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
पूर्वदेहकृतं सर्वमवश्यमुपभुज्यते ॥१२॥

जीवात्मा पूर्व जन्म में भले या बुरे जो भी कर्म करता है उन सब को अवश्य भोगता है ॥ १२ ॥

ततस्तु क्षीयते चैव पुनश्चान्यत्प्रचीयते ।
यावत्तन्मोक्षयोगस्थं धर्मं नैवावबुद्ध्यते ॥१३॥

जब तक मोक्ष के मार्ग को ग्रहण नहीं करता तब तक पूर्व कर्मों को भोगता रहता है और नये कर्म करता रहता है ॥ १३ ॥

तत्र कर्म प्रवक्ष्यामि सुखी भवति येन वै ।
आवर्तमानो जातीषु यथाऽन्योन्यासु सत्तम ॥१४॥

मैं तुम्हें उस कर्म का उपदेश करूंगा जिससे जीवात्मा जन्म मरण के बन्धन में भी सुख को प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

दानं व्रतं ब्रह्मचर्यं यथोक्तं ब्रह्मधारणम् ।
दमः प्रशान्तता चैव भूतानां चानुकम्पनम् ॥१५॥
संयमश्चानृशंस्यं च परस्वादानवर्जनम् ।
व्यलीकानामकरणं भूतानां मनसा भुवि ॥१६॥
मातापित्रोश्च शुश्रूषा देवताऽतिथिपूजनम् ।
गुरुपूजा घृणा शौचं नित्यमिन्द्रियसंयमः ॥१७॥
प्रवर्तनं शुभानां च तत्सतां वृत्तमुच्यते ।
ततो धर्मः प्रभवति यः प्रजाः पाति शाश्वताः ॥१८॥

दान, व्रत, ब्रह्मचर्य, परमात्मा की उपासना, दम, शान्ति, प्राणियों पर दया, संयम, करुणा, संतोष, किसी प्राणी का मन से अशुभ चिन्तन न करना, माता पिता की सेवा, देवता अतिथि और गुरु की पूजा, असंग, पवित्रता, सदा इन्द्रियों का निग्रह, सत् कर्म करना, ये सज्जनों के स्वाभाविक गुण हैं इन गुणों से उस धर्म की उत्पत्ति होती है जिससे सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा होती है १५—१८॥

एवं सत्सु सदा पश्येत्तत्राप्येषा ध्रुवा स्थितिः ।
आचारो धर्ममाचष्टे यस्मिन् शान्ता व्यवस्थिताः॥१९

ये गुण सज्जनों में स्वभाव से रहते हैं, और इस आचार का नाम ही धर्म है। जिससे सदा शांति प्राप्त होती है ॥ १९ ॥

तेषु तत्कर्म निर्दिष्टं यः स धर्मः सनातनः ।
यस्तं समभिपद्येत न स दुर्गतिमाप्नुयात् ॥२०॥

इन सज्जनों के कर्मों को ही सनातन धर्म कहते हैं और जो इस धर्म का पालन करता है वह कभी अधोगति को प्राप्त नहीं होता ॥ २० ॥

अतो नियम्यते लोकः प्रच्यवन्धर्मवर्त्मसु ।
यश्च योगी च मुक्तश्च स एतेभ्यो विशिष्यते ॥२१॥

ये गुण ही जगत् में कुमार्ग से प्राणियों की रक्षा करते हैं। किन्तु योगी और मुक्तात्मा इनसे अधिक विशेष गुणों को धारण करते हैं ॥ २१ ॥

वर्तमानस्य धर्मेण शुभं यत्र यथा तथा।
संसारतारणं ह्यस्य कालेन महता भवेत् ॥२२॥

क्योंकि इन गुणों के धारण करने से बहुत अधिक समय में इस संसार सागर से छुटकारा मिलता है अर्थात् योगी और मुक्ति की कामना वाला पुरुष अपने विशेष गुणों से शीघ्र ही छुटकारा पाता है ॥ २२ ॥

एवं पूर्वकृतं कर्म नित्यं जन्तुः प्रपद्यते।
सर्वं तत्कारणम् येन विकृतोऽयमिहागतः ॥२३॥

इस प्रकार जीव पहले किये हुए कर्मों से जन्म धारण करता है और ये कर्म ही जीवात्मा के बन्धन के कारण है ॥ २३ ॥

शरीरग्रहणं चास्य केन पूर्वं प्रकल्पितम्।
इत्येवं संशयो लोके तच्च वक्ष्याम्यतः परम् ॥२४॥

यह एक बड़ा संदेहास्पद विषय है कि जीवात्मा संसार के बन्धन में कैसे फंसा ? इसलिये में तुम्हें इस बात का उपदेश करता हूँ २४

शरीरमात्मनः कृत्वा सर्वलोकपितामहः।
त्रैलोक्यमसृजद्ब्रह्मा कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ॥२५॥

सम्पूर्ण संसार के अधीश्वर परमात्मा ने स्वभावतः स्थावर जंगम रूप तीनों लोकों कीरचना की ॥ २५ ॥

ततः प्रधानमसृजत्प्रकृतिं स शरीरिणाम्।
यया सर्वमिदं व्याप्तं यां लोके परमां विदुः ॥२६॥

तब सम्पूर्ण संसार की मूल कारण प्रकृति (अभिव्यक्त) प्रकट हुई और यही प्रकृति सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है ॥ २६ ॥

इदं तत्त्वरमित्युक्तं परं त्वमृतमक्षरम् ।
त्रयाणां मिथुनं सर्वमेकैकस्य पृथक् पृथक् ॥२७॥

यह प्रकृति की अभिव्यक्ति, तथा अनभिव्यक्ति (प्रकृति तथा विकृति रूप) अनित्य है और जीव अमृत रूप नित्य है यह सम्पूर्ण संसार ईश्वर जीव प्रकृति इन तीनों के ही मेल का नाम है किन्तु वस्तुतः तीनों पृथक् पृथक् हैं ॥ २७ ॥

असृजत्सर्वभूतानि पूर्वदृष्टः प्रजापतिः ।
स्थावराणि च भूतानि इत्येषा पौर्विकी श्रुतिः ॥२८॥

यह प्राचीन श्रुति है कि नित्य परमात्मा ने ही सम्पूर्ण स्थावर और जंगम संसार की रचना की है ॥ २८ ॥

तस्य कालपरीमाणमकरोत्स पितामहः ।
भूतेषु परिवृत्तिं च पुनरावृत्तिमेव च ॥२९॥

परमात्मा ने ही शरीर को अनित्य तथा प्राणियों के पुनर्जन्म की व्यवस्था की है ॥ २९ ॥

यथाऽत्र कश्चिन्मेधावी दृष्टात्मा पूर्वजन्मनि ।
यत्प्रवक्ष्यामि तत्सर्वं यथावदुपपद्यते ॥३०॥

जिस प्रकार कोई बुद्धिमान् पुरुष पूर्व काल की अपनी कथा को कहता है उसी प्रकार मैं भी इस सम्पूर्ण विषय का उपदेश करूंगा ॥ ३० ॥

सुखदुःखे यथा सम्यगनित्ये यः प्रपश्यति ।
कायं चामेध्यसङ्घातं विनाशं कर्मसंहितम् ॥३१॥
यच्च किंचित्सुखं तच्च दुःखं सर्वमिति स्मरन् ।
संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम् ॥३२॥

जो व्यक्ति सुख और दुख को अनित्य, शरीर को मल मूत्र का स्वरूप, जन्म और मृत्यु का कारण कर्म, और जो भी कुछ इस संसार में थोड़ा बहुत सुख है, उसे दुख समझता है वही इस कठिन संसार महोदधि से पार होता है ॥ ३१—३२ ॥

जातीमरणरोगैश्च समाविष्टः प्रधानवित् ।
चेतनावत्सु चैतन्यं सर्वभूतेषु पश्यति ॥३३॥
निर्विद्यते ततः कृत्स्नं मार्गमाणः परं पदम् ।
तस्योपदेशं वक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तम ॥३४॥

जिस प्रकार परमात्मा का ध्यान करते हुए जन्म मरण तथा रोगों से युक्त होकर सम्पूर्ण चेतन प्राणियों मे चेतनता को अनुभव करते हुए मुक्ति के मार्ग को ढूंढते हुए, इस संसार मे तीव्र विरक्ति पैदा करते हैं । उस विषय का वास्तविक उपदेश मैं तुम्हें कहूंगा ॥ ३३—३४ ॥

शाश्वतस्याव्ययस्याथ यदस्य ज्ञानमुत्तमम्
प्रोच्यमानं मया विप्र निबोधेदमशेषतः ॥३५॥

हे ब्राह्मण ! अब तुम मुझ से नित्य अविनाशी परब्रह्म विषयक ज्ञान को सुनो ॥ ३५ ॥

तीसरा अध्याय समाप्त

चतुर्थ अध्याय

ब्राह्मण उवाच—

यः स्यादेकायने लीनस्तूष्णीं किंचिदचिन्तयन् ।
पूर्वं पूर्वं परित्यज्य स तीर्णो बन्धनाद्भवेत् ॥१॥

ब्राह्मण बोला जो पुरुष सांसारिक विषयों का ध्यान छोड़कर तथा अपने पूर्व कर्मों का परित्याग करके एकान्त में ब्रह्म में लीन होता है वह इस बन्धन से छूट जाता है ॥ १ ॥

सर्वमित्रः सर्वसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः ।
व्यपेतभयमन्युश्च आत्मवान्मुच्यते नरः ॥२॥

जो पुरुष सम्पूर्ण संसार का मित्र, सहिष्णु, शान्त, जितेन्द्रिय, भय और क्रोध से रहित होकर आत्मा का चिन्तन करता है वही संसार से मुक्त होता है ॥ २ ॥

आत्मवत्सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः ।
अमानो निरभीमानः सर्वतो मुक्त एव सः ॥३॥

जो अपने समान ही सम्पूर्ण प्राणियों से वर्ताव करता है तथा शुद्ध रहता है और मान अपमान की चिन्ता नहीं करता वह मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च ।
लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते ॥४॥

जीवन, मरण, सुख, दुःख, हानि लाभ शत्रु और मित्र में भी जो एक सी बुद्धि रखता है वो बन्धन से छुटकारा पाता है ॥ ४ ॥

न कस्यचित् स्पृहयते नाऽवजानाति किंचन ।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः ॥५॥

जो न किसी से कुछ कामना करता है और न किसी का अपमान करता है तथा सांसारिक झंझटों से पृथक् होकर अपने आत्मा से राग द्वेषादि को छोड़ देता है वही मुक्त होता है ॥ ५ ॥

अनमित्रश्च निर्बन्धुरनपत्यश्च यः क्वचित् ।
त्यक्तधर्मार्थकामश्च निराकांक्षी च मुच्यते ॥६॥

जिसे मित्रों की अभिलाषा नहीं, सम्बन्धियों से सम्बन्ध नहीं और पुत्र की भी जिसे इच्छा नहीं, और जिसने धर्म अर्थ काम का परित्याग कर दिया, और जिसे किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं है अर्थात् अपने आत्मा से ही जो संतुष्ट है वही मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

नैव धर्मी न चाधर्मी पूर्वोपचितहाऽपकः ।
धातुक्षयप्रशान्तात्मा निर्द्वन्द्वः स विमुच्यते ॥७॥

धर्म तथा अधर्म से रहित, पूर्व कृत कर्म से शून्य और धातुओं के नष्ट हो जाने से प्रशान्त चित्त और बन्धनों से रहित हो कर जीवात्मा मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

अकर्मवान् विकाङ्क्षश्च पश्येज्जगदशाश्वतम् ।
अश्वत्थसदृशं नित्यं जन्ममृत्युजरायुतम् ॥८॥

वैराग्यबुद्धिः सततमात्मदोषव्यपेक्षकः ।
आत्मबन्धविनिर्मोक्षं स करोत्यचिरादिव ॥९॥

इच्छा रहित तथा काम्य कर्मों का नाश करके और संसार को अश्वत्थ के समान, जन्म मृत्यु तथा वृद्धावस्था से युक्त इस संसार को सदा अनित्य समझता है और जो विरक्त होकर नित्य अपने दोषों पर दृष्टि रखता है वह शीघ्र ही संसार के बन्धन से छूट जाता है ॥ ८—९ ॥

अगन्धमरसस्पर्शमशब्दमपरिग्रहम् ।
अरूपमनभिज्ञेयं दृष्ट्वाऽऽत्मानं विमुच्यते ॥१०॥

गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, रूप, और परिग्रह से रहित तथा कठिनता से जानने योग्य आत्म स्वरूप को देखता है वह मुक्त हो जाता है।१०

पञ्चभूतगुणैर्हीनममूर्तिमदहेतुकम् ।
अगुणं गुणभोक्तारं यः पश्यति स मुच्यते ॥११॥

पृथ्व्यादि पंच भूतों से रहित अत्यन्त सूक्ष्म, नित्य तथा गुणों से रहित किन्तु गुणों का भोग करने वाले आत्मस्वरूप को जो देख लेता है वह मुक्त हो जाता है ॥ ११ ॥

विहाय सर्वसंकल्पान् बुद्ध्या शारीरमानसान् ।
शनैर्निर्वाणमाप्नोति निरिन्धन इवाऽनलः ॥१२॥

जो अपनी बुद्धि से शारीरिक तथा मानसिक संकल्पों का परित्याग कर देता है वह शीघ्र ही इस प्रकार शान्तिको प्राप्त करता है

जिस प्रकार ईंधन से रहित अग्नि अर्थात् बिना काष्ठके अग्नि जिस प्रकार शीघ्र ही शान्त होकर भस्मी भूत हो जाता है उसी प्रकार जीवात्मा संकल्पों के अभाव से मोक्ष पद को प्राप्त करता है ॥१२॥

सर्वसंस्कारनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
तपसा इन्द्रियग्रामं यश्चरेन्मुक्त एव सः ॥१३॥

सब संस्कारों से रहित तथा विरक्त होकर जो तप से अपनी इन्द्रियों को वश में करता है वही मुक्त होता है ॥ १३ ॥

विमुक्तः सर्वसंस्कारैस्ततो ब्रह्म सनातनम् ।
परमाप्नोति संशान्तमचलं नित्यमक्षरम् ॥१४॥

फिर सम्पूर्ण संस्कारों से मुक्त होकर शान्त अविनाशी निश्चल नित्य ब्रह्म की पदवी को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

अतःपरं प्रवक्ष्यामि योगशास्त्रमनुत्तमम् ।
युञ्जतः सिद्धमात्मानं यथा पश्यन्ति योगिनः ॥१५॥

अब मैं उस श्रेष्ठ योग का वर्णन करूंगा जिसके आश्रय से योगी आत्मस्वरूप का दर्शन करते हैं ॥१५॥

तस्योपदेशं वक्ष्यामि यथावत्तन्निबोध मे ।
यैर्द्वारैश्चारयन्नित्यं पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥१६॥

अब तुम उस उपदेश को सुनो कि जिससे चित्त की वृत्तियों के निरोध आदि साधनों से जीवात्मा अपने अन्दर प्रभु का दर्शन करता है ॥१६॥

इन्द्रियाणि तु संहृत्य मन आत्मनि धारयेत् ।
तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं मोक्षयोगं समाचरेत् ॥१७॥

इन्द्रियों को विषयों से दूर करके मनको आत्मा में लगावे, और फिर उग्र तप को धारण करके योग करे ॥१७॥

तपस्वी सततं युक्तो योगशास्त्रमथाचरेत् ।
मनोषी मनसा विप्रः पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥१८॥

इस प्रकार तपस्वी सदा योग अर्थात् चित्त की वृतियों का निरोध करे और अपने मन के द्वारा आत्मा में ही प्रभु के दर्शन करे ॥ १८

स चेच्छक्नोत्ययं साधुर्योक्तुमात्मानमात्मनि ।
तत एकान्तशोलः स पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥१९॥

जो इस प्रकार योग करके अपने आत्मा में ही प्रभु के दर्शन करने का प्रयत्न करता है वह विरक्त अवश्य प्रभु के दर्शन करता है ॥१९॥

संयतः सततं युक्त आत्मवान्विजितेन्द्रियः ।
तथा य आत्मनाऽऽत्मानं संप्रयुक्तः प्रपश्यति ॥२०॥

इन्द्रियों को वश में करके तथा आत्मा को पहचान कर जो निश्चलमति होकर योग करता है वह अवश्य प्रभु के दर्शन करता है ॥२०॥

यथा हि पुरुषः स्वप्ने दृष्ट्वा पश्यत्यसाविती ।
तथारूपमिवात्मानं साधुयुक्तः प्रपश्यति ॥२१॥

जिस प्रकार स्वप्न में किसी पदार्थ को देख कर जागृतावस्था में भी लोग उसका अनुभव करते हैं उसी प्रकार समाधि में प्रभु

के दर्शन करके योगी समाधि अवस्था से पृथक् होकर भी उस प्रभु का दर्शन करते हैं ॥२१॥

इषीकां च यथा मुञ्जात्कश्चिन्निष्कृष्य दर्शयेत् ।
योगी निष्कृष्य चात्मानं तथा पश्यति देहतः ॥२२॥

जिस प्रकार पुरुष छिल्के से सींक को निकाल कर पृथक् दिखला देता है उसी प्रकार योगी अपने आत्मा को इस देह से भिन्न देखता है ॥२२॥

मुञ्जं शरीरमित्याहुरिषीकामात्मनिश्रिताम् ।
एतन्निदर्शनं प्रोक्तं योगविद्भिरनुत्तमम् ॥२३॥

योगी पुरुष शरीर और आत्मा के भेद को स्पष्ट करने के लिये सींक और छिलके का सुन्दर उदाहरण दिया करते हैं। इसमें छिलका शरीर है और सींक शरीर में रहने वाला जीवात्मा ॥२३॥

यदा हि युक्तमात्मानं सम्यक् पश्यति देहभृत् ।
न तस्येहेश्वरः कश्चित्त्रैलोक्यस्यापि यः प्रभुः॥२४॥

जब एक शरीरधारी समाधिस्थ होकर प्रभु के दर्शन करता है उस समय संसार का बड़े से बड़ा राजा भी उसके ऊपर अधिकार नहीं कर सकता ॥ २४ ॥

अन्यान्याश्चैव तनवो यथेष्टं प्रतिपद्यते ।
विनिवृत्य जरां मृत्युं न शोचति न हृष्यति ॥२५॥

योगी बुढ़ापे तथा मृत्यु को जीतकर न तो कभी दुख को प्राप्त होता है और न कभी सांसारिक सुख प्राप्त करता है किन्तु अपनी इच्छानुसार भिन्न २ शरीरों को प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

देवानामपि देवत्वं युक्तः कारयते वशी ।
ब्रह्म चाव्ययमाप्नोति हित्वा देहमशाश्वतम् ॥२६॥

योगी देवताओं के ऐश्वर्य को धारण करता है तथा इस अनित्य शरीर को छोड़कर ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

विनश्यत्सु च भूतेषु न भयं तस्य जायते ।
क्लिश्यमानेषु भूतेषु न स क्लिश्यति केनचित् ॥२७॥

प्राणियों के नष्ट होने पर अर्थात् प्रलय के समय में भी उसे किसी प्रकार का भय नहीं होता न अन्य प्राणियों के दुख से दुखी होता है । अर्थात् वह किसी के साथ कोई अपना सम्बन्ध अनुभव नहीं करता ॥ २७ ॥

दुःखशोकमयैर्घोरैः सङ्गस्नेहसमुद्भवैः ।
न विचाल्यति युक्तात्मा निस्पृहः शान्तमानसः॥२८॥

संग तथा स्नेह से उत्पन्न दुःख शोक रूपी अत्यन्त कष्ट प्रद भाव भी उस शान्त चित्त विरक्त योगी को चलायमान नहीं कर सकते ॥ २८ ॥

नैनं शस्त्राणि विध्यन्ते न मृत्युश्चास्य विद्यते ।
नातः सुखतरं किंचिल्लोके क्वच न दृश्यते ॥२९॥

न तो उसे शस्त्रों से भय रहता है, न मृत्यु ही उसे उद्विग्न कर सकता है इससे अधिक आनन्दमय अवस्था और कोई नहीं है ॥ २९ ॥

सम्यग्युक्त्वा स आत्मानमात्मन्येव प्रतिष्ठते ।
विनिवृत्तजरादुःखः सुखं स्वपिति चापि सः ॥३०॥

समाधिस्थ होकर योगी प्रभु के दर्शन करता है और वृद्धावस्था प्रभृति दुखों का नाश करके वह परमात्मा की प्राप्ति करता है ॥३०

देहान्यथेष्टमभ्येति हित्वेमां मानुषीं तनुम् ।
निर्वेदस्तु न कर्तव्यो भुञ्जानेन कथंचन ॥३१॥

इस मनुष्य देह को छोड़कर वह इच्छानुसार शरीरों को धारण करता है इस लिये समाधिस्थ सुख को भोगते हुए उस सुख से उपराम नहीं होना चाहिये ॥ ३१ ॥

सम्यग्युक्तो यदाऽऽत्मानमात्मन्येव प्रपश्यति ।
तदैव न स्पृहयते साक्षादपि शतक्रतोः ॥३२॥

जिस समय समाधिस्थ पुरुष अपने में प्रभु का दर्शन करता है उस समय वह परमैश्वर्यवान् चक्रवर्त्ती राज्य की भी कामना नहीं करता ॥ ३२ ॥

योगमेकान्तशीलस्तु यथा विन्दति तच्छृणु ।
दृष्टपूर्वां दिशं चिन्त्य यस्मिन्संनिवसेत्पुरे ॥३३॥
पुरस्याभ्यन्तरे तस्य मनः स्थाप्यं न बाह्यतः ।
पुरस्याभ्यन्तरे तिष्ठन् यस्मिन्नावसथे वसेत् ।
तस्मिन्नावसथे धार्यं सबाह्याभ्यन्तरं मनः ॥३४॥

ध्यानावस्थित होकर पुरुष जिस प्रकार समाधि में बैठता है वह तुम ध्यान पूर्वक सुनो। प्राचीन ब्रह्मविद्या सम्बन्धी उपदेशों को विचारता हुआ जब जीवात्मा शरीर में रहता है तब इसका यह कर्तव्य है कि मनको वहिर्मुख वृत्ति न करके उसको अन्तर्मुख वृत्ति

करे। और शरीर में रहने हुए मूलाधारादि चक्र में मनको धारण करे ॥ ३३—३४ ॥

प्रचिन्त्यावस्थे कृत्स्नं यस्मिन्काले स पश्यति ।
तस्मिन्काले मनश्चास्य न च किं च सबाह्यतः॥३५॥

जब चक्र में मन स्थिर हो जाता है तब मन वासना रहित हो जाता है और बाहर की वृत्तियों को समेट लेता है ॥ ३५ ॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं निर्घोषे निर्जने वने ।
कायमभ्यन्तरं कृत्स्नं मेकाग्रः परिचिन्तयेत् ॥३६॥

निर्जन वन में इन्द्रियों के वेग का नियन्त्रण करके अपने अन्दर ही एक चित्त होकर परमात्मा का ध्यान करना चाहिये ॥ ३६ ॥

दन्तांस्तालु च जिह्वां च गलं ग्रीवां तथैव च ।
हृदयं चिन्तयेचापि तथा हृदयबन्धनम् ॥३७॥

दांत तालु जिह्वा कंठ ग्रीवा हृदय और नाड़ी रूप हृदय के बंधन का उस समय विचार करना चाहिये। यहां पर दाँतों से तात्पर्य आहार शुद्धि से है क्यों कि उपनिषदों में आहार शुद्धि का सबसे प्रथम मुक्ति का साधन माना है। तालु और जिह्वा से उस स्थान का ग्रहण किया गया है जहां योगी जन धारणा को सिद्ध करते हैं इससे भृकुटी का भी ग्रहण किया गया है कंठ और ग्रीवा का तात्पर्य कंठकूप आदि स्थानों से है जहां पर संयम करने से भूख प्यास एवं भोगों से विरक्ति होती है हृदय से तात्पर्य हृदयस्थ ब्रह्म से है और नाड़ी रूप हृदय के बन्धन वे हैं जहां पर योगी लोग ध्यान करते हैं इस प्रकार इस श्लोक में सिद्ध महर्षि ने

काश्यप को अपने उपदेश का उपसंहार करते हुए मोक्ष प्राप्ति के वे पांच साधन बतलाये अर्थात् आहार शुद्धि प्राणायाम भोगों से निवृत्ति, ध्यान और परमात्मा का चिन्तन ॥ ३७ ॥

इत्युक्तः स मया शिष्यो मेधावी मधुसूदन ।
पप्रच्छ पुनरेवेमं मोक्षधर्मं सुदुर्वचम् ॥३८॥

हे श्री कृष्ण ! मैंने जब उस बुद्धिमान् शिष्य का यह उपदेश दिया तब मेरे उपसंहार में बतलाये हुये साधनों को लक्ष्य में रख कर उसने मुझसे यह प्रश्न किये ॥ ३८ ॥

भुक्तं भुक्तमिदं कोष्ठे कथमन्नं विपच्यते ।
कथं रसत्वं व्रजति शोणितत्वं कथं पुनः ॥३९॥
तथा मांसं च मेदश्च स्नाय्वस्थीनि च योषिति ।
कथमेतानि सर्वाणि शरीराणि शरीरिणाम् ॥४०॥
वर्धन्ते वर्धमानस्य वर्धते च कथं बलम् ।
निरोधानां निगमनं मलानां च पृथक् पृथक् ॥४१॥

जो भी कुछ अन्न इस शरीर में भोजन के रूप में जाता है वह किस प्रकार पचता है और किस प्रकार उसका रस रक्त मांस, चर्बी, आंते और हड्डी बनती है किस प्रकार देह के बढ़ने से इनकी वृद्धि होती है और इनके साथ किस प्रकार बलकी वृद्धि होती है। शरीर का मल किस प्रकार से पृथक् २ होकर निकल जाता है यह आहार शुद्धि विषयक प्रश्न है ।। ३९—४१ ॥

कुतो वाऽयं प्रश्वसिति उच्छ्वसित्यपि वा पुनः ।
कं च देशमधिष्ठाय तिष्ठत्यात्माऽयमात्मनि ॥४२॥

किस प्रकार यह श्वास और प्रश्वास को लेता है। यह दूसरा प्रश्न है। और यह आत्मा शरीर के किस देश में रहता है यह चौथा प्रश्न है ॥ ४२ ॥

[तृतीय विषय योग का अधिक सहायक नहीं है इसलिये उस पर प्रश्न नहीं किया]

जीवः कथं वहति च चेष्टमानः कलेवरम् ।
किं वर्णं कीदृशं चैव निवेशयति वै पुनः ॥४३॥

जीव किस प्रकार कर्म करता हुआ शरीर को धारण करता है और किस प्रकार नाड़ियों के द्वारा सूक्ष्म शरीर का धारण करता है और उन नाड़ियों के क्या स्वभाव हैं फिर किस प्रकार का शरीर प्राप्त करता है ॥ ४३ ॥

याथातथ्येन भगवन् वक्तुमर्हसि मेऽनघ ।
इति संपरिपृष्टोऽहं तेन विप्रेण माधव ॥४४॥

हे श्री कृष्ण ! इस प्रकार मुझसे उस ब्राह्मण ने चार प्रश्न किए और मुझसे प्रार्थना की कि हे भगवन मुझे इनका उपदेश करो ॥ ४४ ॥

(पाठकवृन्द ! इस ब्राह्मण गीता में प्रथम २ प्रश्नों का ही उत्तर मुख्य रूप से दिया गया है और अन्तिम २ प्रश्नों का मुख्यतया उत्तर गुरु गीता में गुरु शिष्य सम्वाद रूप से दिया गया है यदि परमात्मा की कृपा हुई और पाठकों का प्रेम बना रहा तो बहुत शीघ्र ही हम गुरु गीता को भी इस ब्राह्मण गीता से अधिक सुन्दर रूप में प्रकाशित करेंगे। पाठक प्रतीक्षा करें)।

प्रत्यक्षवं महाबाहो यथाश्रुतमरिन्दम ।
यथा स्वकोष्ठे प्रक्षिप्य भाण्डं भाण्डमना भवेत् ॥४५
तथा स्वकाये प्रक्षिप्य मनो द्वारैरनिश्चलैः ।
आत्मानं तत्र मार्गेत प्रमादं परिवर्जयेत् ॥४६॥

हे कृष्ण ! तब मैंने उसे इस प्रकार उत्तर दिया कि हे ब्राह्मण! जिस प्रकार एक पुरुष अपने घर में किसी वस्तु को रखकर ढूंढ लेता है उसी प्रकार अपने शरीर में एकाग्र इन्द्रियों के द्वारा मन की सहायता से आत्मा को ढूंढना चाहिये और इस में आलस्य नहीं करना चाहिये ॥ ४५—४६ ॥

एवं सततमुद्युक्तः प्रीतात्मा न चिरादिव ।
आसादयति तद्ब्रह्म यद् दृष्ट्वा स्यात्प्रधानवित् ॥४७॥

इस प्रकार प्रसन्न चित्त होकर निरंतर उद्योग करने से परब्रह्म [illegible] को जीवात्मा प्राप्त करता है, उसके दर्शन मात्र से ही जीवात्मा [illegible] सम्पूर्ण अविद्यादि दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ ४७ ॥

न त्वसौ चक्षुषा ग्राह्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः ।
मनसैव प्रदीपेन महानात्मा प्रदृश्यते ॥४८॥

परमात्मा को न आखों से देखा जा सकता है और न सब इन्द्रियों के इकट्ठा करने से ही देखा जाता है किन्तु उस महान् परमात्मा के दर्शन केवल मनके द्वारा ही हो सकते हैं ॥ ४८ ॥

सर्वतः पाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतः श्रुतिमांल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥४९॥

परमात्मा की गमनशक्ति सर्वत्र विद्यमान है उसके नेत्र, शिर तथा मुख सब ओर है वह सब स्थानों की बातों को सुनता है अर्थात् परमात्मा निराकार, सर्वशक्तिमान्, तथा सर्वज्ञ है ॥४९॥

जीवो निष्क्रान्तमात्मानं शरीरात्संप्रपश्यति ।
स तमुत्सृज्य देहे स्वं धारयन्ब्रह्म केवलम् ॥५०॥

जीवात्मा इस शरीर से अपना निकलना अनुभव करता है और देह परित्याग करते समय केवल प्रभु का स्मरण करता है ।५०

आत्मानमालोकयति मनसा प्रहसन्निव ।
तदेवमाश्रयं कृत्वा मोक्षं याति ततो मयि ॥५१॥

उस समय प्रसन्न होकर अपने आपको देखता है और उस प्रभु के आश्रय से ही निर्वाण पद को प्राप्त करता है ॥ ५१ ॥

इदं सर्वरहस्यं ते मया प्रोक्तं द्विजोत्तम ।
आपृच्छे साधयिष्यामि गच्छ विप्र यथासुखम्॥५२॥

हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ काश्यप ! यह सब श्रेष्ठ ज्ञान मैंने तुम्हें दिया है मैं तुम्हें अनुमति देता हूँ कि अब तुम सुख पूर्वक जाओ ॥ ५२ ॥

इत्युक्तः स तदा कृष्ण मया शिष्यो महातपाः ।
आगच्छत यथाकामं ब्राह्मणः संशितव्रतः ॥५३॥

हे श्रीकृष्ण ! इस प्रकार उपदेश सुनकर वह तपस्वी तथा व्रती ब्राह्मण अपनी इच्छानुसार चलागया ॥ ५३ ॥

वासुदेव उवाच—

इत्युक्त्वा स तदा वाक्यं मां पार्थ द्विजसत्तमः ।
मोक्षधर्माश्रितः सम्यक् तत्रैवान्तरधीयत ॥५४॥

श्रीकृष्ण जी बोले ! हे अर्जुन वह मोक्ष धर्म के ज्ञाता श्रेष्ठ ब्राह्मण मुझसे इस प्रकार कह कर वहीं पर अन्तर्धान होगये ॥ ५४

कच्चिदेतत्त्वया पार्थ श्रुतमेकाग्रचेतसा ।
तदापि हि रथस्थस्त्वं श्रुतवानेतदेव हि ॥५५॥

हे अर्जुन ! क्या तुमने इस उपदेश को ध्यान पूर्वक सुना है । इस उपदेश को तुमने युद्ध के आरम्भ में रथ पर बैठे हुए भी सुना था ॥ ५५ ॥

नैतत्पार्थ सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणेतिमे मतिः ।
नरेणाकृतसंज्ञेन विशुद्धेनान्तरात्मना ॥५६॥

हे अर्जुन ! मेरा ऐसा विचार है कि एक असावधान मलिन हृदय वाला पुरुष इस उपदेश को नहीं समझ सकता ॥ ५६ ॥

सुरहस्यमिदं प्रोक्तं देवानां भरतर्षभः ।
कच्चिन्नेदं श्रुतं पार्थ मनुष्येणेह कर्हिचित् ॥५७॥

हे भरत श्रेष्ठ ! यह ज्ञान देवताओं को सुनाने के योग्य है । साधारण मनुष्य इस ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं ॥ ५७ ॥

न ह्येतच्छ्रोतुमर्होऽन्यो मनुष्यस्त्वामृतेऽनघ ।
नैतदद्य सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणान्तरात्मना ॥५८॥

हे श्रेष्ठ अर्जुन ! तुम्हारे सिवाय और कोई पुरुष इस ज्ञान के सुनने का अधिकारी नहीं है तथा असावधान पुरुष इसे समझ भी नहीं सकता ॥ ५८ ॥

क्रियावद्भिर्हि कौन्तेय देवलोकः समावृतः ।
न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यैरूपनिवर्तनम् ॥५९॥

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! सकाम कर्म करने वाले पुरुष देवलोक अर्थात् स्वर्ग को प्राप्त होते हैं किन्तु श्रेष्ठ पुरुष इस जन्म मरण के बन्धन को अच्छा नहीं समझते ॥ ५९ ॥

परा हि सा गतिः पार्थ यत्तद्ब्रह्म सनातनम् ।
यत्रामृतत्वं प्राप्नोति त्यक्त्वा देहं सदा सुखी॥६०॥

हे अर्जुन ! परब्रह्म की प्राप्ति ही निर्वाण पद है जिस अमृत पद को शरीर छोड़कर ही जीवात्मा प्राप्त करता है और सदा आनन्द युक्त रहता है ॥ ६० ॥

इमं धर्मं समास्थाय येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।६१

इस प्रभु पद की प्राप्ति के साधन को धारण करके पापी अर्थात् कोढ़ी कलंकी आदि पुरुष, स्त्रियें वैश्य तथा शूद्र भी उत्तम गति को प्राप्त होते हैं ॥ ६१ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पार्थ क्षत्रिया वा बहुश्रुताः ।
स्वधर्मरतयो नित्यं ब्रह्मलोकपरायणाः ॥६२॥

विद्वान धार्मिक सदा ब्रह्म पद के इच्छुक ब्राह्मणों और क्षत्रियों का तो कहना ही क्या है ॥६२॥

हेतुमच्चैतदुद्दिष्टमुपायाश्चस्य साधने ।
सिद्धिं फलं च मोक्षश्च दुःखस्य च विनिर्णयः ॥६३॥

यह हमने हेतु पूर्वक मोक्ष धर्म का उपदेश किया है और उसके साधन भी बतला दिये हैं जिनसे दुखों का अन्त अनेक प्रकार की सिद्धियें और मोक्ष प्राप्त होता है ॥६३॥

नातःपरं सुखं त्वन्यत् किंचित्स्याद्भरतर्षभ ।
बुद्धिमान् श्रद्दधानश्च पराक्रान्तश्च पाण्डव ॥६४॥
यः परित्यज्यते मर्त्यो लोकसारमसारवत् ।
एतैरुपायैः स क्षिप्रं परां गतिमवाप्नुते ॥६५॥

हे अर्जुन ! इससे अधिक सुख और कुछ भी नहीं है हे अर्जुन जो बुद्धिमान् श्रद्धालु पुरुष इस नानाविध भंडारों से परिपूर्ण संसार को तुच्छ वस्तु समझ कर छोड़ देता है वह पूर्वोक्त शम आदि साधनों से शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है ॥६४—६५॥

एतावदेव वक्तव्यं नातो भूयोऽस्ति किंचन ।
षण्मासान्नित्ययुक्तस्य योगः पार्थ प्रवर्तते ॥६६॥

केवल इतना ही उपदेश करना है और इससे अधिक कुछ नहीं है । हे अर्जुन ! जो ६ मास तक नित्य साधन करता है वह योग को प्राप्त होता है ॥ ६६॥

श्री ब्राह्मण गीता का चतुर्थोध्याय समाप्त हुआ ।

पंचम अध्याय

वासुदेव उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
दम्पत्योः पार्थ संवादो योऽभवद्भरतर्षभ ॥१॥

श्रीकृष्ण जी बोले—ब्राह्मण ने जो पहले प्रश्न किया था उस विषय को स्पष्ट करने के लिये एक प्राचीन उपाख्यान प्रसिद्ध है जो एक पति पत्नी सम्वाद के रूप में है, उसे हे अर्जुन ! तुम सुनो ॥१॥

ब्राह्मणी ब्राह्मणं कंचिज्ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
दृष्ट्वा विविक्त आसीनं भार्या भर्तारमब्रवीत् ॥२॥

एक ब्राह्मणी ज्ञान तथा विज्ञान में कुशल अपने पतिदेव को एकान्त स्थान में बैठा हुआ देख कर बोली ॥२॥

कं नु लोकं गमिष्यामि त्वामहं पतिमाश्रिता ।
न्यस्तकर्माणमासीनं कीनाशमविचक्षणम् ॥३॥
भार्याः पतिकृताँल्लोकानाप्नुवन्तीति नः श्रुतम् ।
त्वामहं पतिमासाद्य कां गमिष्यामि वै गतिम् ॥४॥

हे पतिदेव ! मैंने यह सुना है कि पत्नी अपने पति के तप के प्रभाव से गति को प्राप्त करती है मुझे बतलाओ कि मैं तुम जैसे पति को प्राप्त करके किस अवस्था को प्राप्त करूंगी क्योंकि तुमने यज्ञादि कर्मों का परित्याग कर दिया है और तुम मेरे पति निष्ठुर तथा अविचारवान् हो ॥३—४॥

एवमुक्तः स शान्तात्मा तामुवाच हसन्निव ।
सुभगे नाभ्यसूयामि वाक्यस्यास्य तवाऽनघे ॥५॥

यह सुन कर वह शान्त स्वभाव ब्राह्मण कुछ मुस्कराकर बोले। हे भगवति ! मैं तुम्हारे इन वचनों से अप्रसन्न नहीं हूँ ॥५॥

ग्राह्यं दृश्यं च सत्यं वा यदिदं कर्म विद्यते ।
एतदेव व्यवस्यन्ति कर्म कर्मेति कर्मिणः ॥६॥

यह जो भी कुछ ग्रहण करने योग्य दीक्षा, व्रत आदि दृश्यमान कर्म हैं इसी को कर्मकांडी पुरुष, कर्म के नाम से पुकारते हैं ६

मोहमेव नियच्छन्ति कर्मणा ज्ञानवर्जिताः ।
नैष्कर्म्यं न च लोकेऽस्मिन्मुहूर्तमपि लभ्यते ॥७॥

ज्ञान से रहित कर्मकांडी पुरुष अपने शरीर को कष्ट देकर केवल मोह को प्राप्त करते हैं और वे एक क्षण भी कर्म रहित नहीं रह सकते ॥७॥

कर्मणा मनसा वाचा शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
जन्मादिमूर्तिभेदान्तं कर्मभूतेषु वर्तते ॥८॥
रक्षोभिर्वध्यमानेषु दृश्यद्रव्येषु वर्त्मसु ।
आत्मस्थमात्मना तेभ्यो दृष्टमायतनं मया ॥९॥

जन्म तथा मृत्यु के बन्धन में पड़े हुये नाना योनियों को प्राप्त होकर इस कर्मयोनि में पड़े हुये जीव जो भी मन, वचन, तथा कर्म से भले वा बुरे कर्म करते हैं उन सब दृश्यमान कर्मों का विनाश दुष्ट पुरुष करते हैं इस लिये मैं तो अपने आत्मा में ही

प्रभु के दर्शन करता हूँ। और मैंने प्रभु के दर्शन का स्थान प्राप्त कर लिया है ॥८—९॥

यत्र तद्ब्रह्म निर्द्वन्द्वं यत्र सोमः सहाग्निना ।
व्यवायं कुरुते नित्यं धीरो भूतानि धारयन् ॥१०॥
यत्र ब्रह्मादयो युक्तास्तदक्षरमुपासते ।
विद्वांसः सुव्रता यत्र शान्तात्मानो जितेन्द्रियाः॥११॥

यह स्थान वे हैं जहां पर इडा और पिङ्गला ये दोनों नाड़ियें बुद्धि को प्रेरणा करने वाली वायु के साथ संचरण करती हैं। और जहां पर निर्लेप ब्रह्म रहता है उसी स्थान पर ध्यान लगा कर विद्वान्, व्रती, शान्तचित, तथा जितेन्द्रिय ब्रह्मादि ऋषि उस नित्य ब्रह्म की उपासना करते हैं ॥१०—११॥

घ्राणेन न तदाघ्रेयं नास्वाद्यं चैव जिह्वया ।
स्पर्शनेन तदस्पृश्यं मनसा त्ववगम्यते ॥१२॥

वह ब्रह्म नासिका जिव्हा तथा त्वचा इन्द्रिय का विषय नहीं है किन्तु वह केवल मन से ही जाना जा सकता है ॥१२॥

चक्षुषामविषह्यं च यत्किंचिच्छ्रवणात्परम् ।
अगन्धमरसस्पर्शमरूपाशब्दलक्षणम् ॥१३॥

नेत्र तथा कानों से भी ब्रह्म नहीं जाना जा सकता इसलिये ब्रह्म गंधादि पांचो विषयों से रहित है ॥ १३ ॥

यतः प्रवर्तते तन्त्रं यत्र च प्रतितिष्ठति ।
प्राणोऽपानः समानश्च व्यानश्चोदान एव च ॥१४॥

तत एव प्रवर्तन्ते तदेव प्रविशन्ति च।
समानव्यानयोर्मध्ये प्राणापानौ विचेरतुः ॥१५॥
तस्मिन्लीने प्रलीयेत समानो व्यान एव च।
अपानप्राणयोर्मध्ये उदानो व्याप्य तिष्ठति।
तस्माच्छयानं पुरुषं प्राणापानौ विमुञ्चतः ॥१६॥

उस ब्रह्म से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है, उसमें ही इस सृष्टि का लय हो जाता है। प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान भी उसीसे प्रवृत्त होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं समान और व्यान के बीच में प्राण और अपान रहते हैं जब प्राण पूर्वोक्त स्थान में लीन हो जाता है तब समान और व्यान भी विलीन हो जाते हैं अपान और प्राण के बीच में उदान रहता है इसीलिये मृत शरीर को प्राण और अपान भी छोड़ देते हैं॥ १४—१६ ॥

प्राणानामायतत्त्वेन तमुदानं प्रचक्षते।
तस्मात्तपो व्यवस्यन्ति मद्गतं ब्रह्मवादिनः ॥१७॥

उदान में ही प्राणों का अन्तर्भाव होता है इसलिये ब्रह्मवादी पुरुष नासिका और भौं के बीच में ही ध्यान लगाते हैं॥ १७॥

प्राण अपनादि वायु के ही शरीरस्थ भेदों से पांच भेद हैं, ये आपस में एक दूसरे के किस प्रकार आश्रय रहते हैं यह संक्षेप से यहां पर कहा गया है इस विषय का विशद् विवेचन आगे किया जावेगा। यहां केवल इतना ही समझना चाहिये कि इन पांचो प्राणों में जिस प्राण की मुख्यता है उसका निवास स्थान वही है

जहां पर इड़ापिङ्गला नाड़ियें बुद्धि से प्रेरित वायु के साथ निवास करती हैं उस स्थान को ही ध्यान लगाने का साधन ब्रह्मवेत्ता योगी ऋषियों ने बनाया है।

तेषामन्योन्यभक्षाणां सर्वेषां देहचारिणाम्।
अग्निर्वैश्वानरो मध्ये सप्तधा दीप्यतेऽन्तरा ॥१८॥

इन एक दूसरे के भक्षक तथा शरीर में रहने वाले पाँचों प्राणों में से समान प्राण के स्थल अर्थात् नाभि स्थल में वैश्वानर (जठराग्नि) रहता है और वह अन्दर सात विधियों से प्रकाश करता है ॥ १८ ॥

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक्च श्रोत्रं च पञ्चमम्।
मनो बुद्धिश्च सप्तैता जिह्वा वैश्वानरार्चिषः ॥१९॥

नासिका, रसना, नेत्र, त्वचा, श्रोत्र, मन और बुद्धि ये सात उस वैश्वानर अग्नि की जिह्वायें हैं ॥१९॥

घ्रेयं दृश्यं च पेयं च स्पृश्यं श्रव्यं तथैव च।
मन्तव्यमथ बोद्धव्यं ताः सप्त समिधो मम ॥२०॥
घ्राता भक्षयिता द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता च पञ्चमः।
मन्ता बोद्धा च सप्तैते भवन्ति परमर्त्विजः ॥२१॥
घ्रेये पेये च दृश्ये च स्पृश्ये श्रव्ये तथैव च।
मन्तव्येऽप्यथ बोद्धव्ये सुभगे पश्य सर्वदा ॥२२॥
हवींष्यग्निषु होतारः सप्तधा सप्त सप्तसु।
सम्यक्प्रक्षिप्य विद्वांसो जनयन्ति स्वयोनिषु॥२३॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैता योनिरित्येव शब्दिताः ॥२४॥

इसी प्रकार इन सातों के सात ही विषय उस वैश्वानर अग्नि की समिधायें हैं। इन सातों विषयों का अनुभव करने वाले, सात ही उस अग्नि के ऋत्विज् हैं । इस प्रकार विद्वान् पुरुष इन सात प्रकार की अग्नियों में सातों प्रकार के विषयों का, सातों प्रकार के अनुभवों द्वारा अपने कारणों में यज्ञ करते हैं तब वे विद्वान् पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, मन, और बुद्धि आदि को उत्पन्न करते हैं और इन्हें ही चैतन्य की अभिव्यक्तिका स्थान कहते हैं ॥२०—२४

हविर्भूता गुणाः सर्वे प्रविशन्त्यग्निजं गुणम् ।
अन्तर्वासमुषित्वा च जायन्ते स्वासु योनिषु ॥२५॥

गंध आदि गुण उस अग्नि में पड़ कर अग्नि से उत्पन्न होने वाले गंधादि ज्ञान रूप बुद्धि की प्रवृत्ति में प्रवेश करते हैं। वे अन्दर रह कर अपने २ कारणों में फिर उत्पन्न होते हैं अर्थात् देखे हुये रूपादि जितने विषय हैं वे सब सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में वासना रूप चित्त में रह कर जागृत अवस्था में फिर उत्पन्न हो जाते हैं ॥२५॥

तत्रैव च निरुध्यन्ते प्रलये भूतभावने ।
ततः संजायते गन्धस्ततः संजायते रसः ॥२६॥
ततः संजायते रूपं ततः स्पर्शोऽभिजायते ।

ततः संजायते शब्दः संशयस्तत्र जायते ।
ततः संजायते निष्ठा जन्मैतत्सप्तधा विदुः ॥२७॥

और जब प्रलयकाल उपस्थित होता है तब अन्दर ही विलीन हो जाते हैं। और फिर अन्दर वास करते हुये उससे गंध, रस रूप, स्पर्श, शब्द, संशय और निष्ठा इन सात गुणों की अभिव्यक्ति होती हैं ॥२६—२७॥

अनेनैव प्रकारेण प्रगृहीतं पुरातनैः ।
पूर्णाहुतिभिरापूर्णास्त्रिभिः पूर्यन्ति तेजसा ॥२८॥

प्राचीन ऋषियों ने इसी प्रकार से इस विषय को समझा है अर्थात् रूप आदि का ग्रहण और उनके संस्कारों की परम्परा से नासिका आदि के स्वरूप को जाना है इस प्रकार ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय इन तीनों के द्वारा उस परब्रह्म के आश्रय से ही यह तीनों लोक परिपूर्ण हैं। यह तीन भी उसकी ही ज्योति से प्रकाशित हैं इस लिये सत्ता वाले हैं ॥२८॥

श्रीब्राह्मण गीता का पांचवा अध्याय समाप्त

षष्ठ अध्याय

ब्राह्मण उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
निबोध दशहोतॄणां विधानमथ यादृशम् ॥१॥

ब्राह्मण ने कहा हे सुभगे ! जिस विषय को हमने ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय के उपाख्यान से कहा है उसी विषय का दश होताओं के उपाख्यान से भी प्राचीन ऋषियों ने वर्णन किया है उसे तुम सुनो ॥ १ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चरणौ करौ ।
उपस्थं वायुरिति वा होतॄणि दश भामिनि ॥२॥

कान, त्वचा, नेत्र, रसना, वाणी, नासिका, हाथ, पैर, मूत्रेन्द्रिय तथा गुदा ये दश होता हैं ॥२॥

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धो वाक्यं क्रिया गतिः ।
रेतोमूत्रपुरीषाणां त्यागो दश हवींषि च ॥३॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, बोलना, क्रिया, गति, वीर्यमूत्र, तथा मल का त्याग ये दश हवि हैं ॥३॥

दिशो वायू रविश्चन्द्रः पृथ्व्यग्नी विष्णुरेव च ।
इन्द्रः प्रजापतिर्मित्रमग्नयो दश भामिनी ॥४॥

दिशा, वायु, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, अग्नि, विष्णु, इन्द्र, प्रजापति, और मित्र ये दश अग्नियें हैं ॥४॥

दशेन्द्रियाणि होतॄणि हवींषि दश भामिनी ।
विषया नाम समिधो हूयन्ते तु दशाग्निषु ॥५॥

कान आदि दश होता, दिशादि दश अग्नियों में शब्द आदि दश प्रकार की हवनीय सामग्री की आहुति देते हैं ॥५॥

चित्तं स्रुवश्च वित्तं च पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् ।
सुविभक्तमिदं सर्वं जगदासीदिति श्रुतम् ॥६॥

मन, इस यज्ञ का स्रुवा है । पुण्य और पाप रूपी संस्कार ही इस यज्ञ में दक्षिणा रूप से दिये जाते हैं । और इसके अनन्तर जो वस्तु शेष रह जाती है वही उत्तम ज्ञान है और ज्ञान ही उसमें लिप्त नहीं होता किन्तु सम्पूर्ण संसार से पृथक् रहता है यह प्राचीन ऋषियों का वचन है अर्थात् विषयों का नाश मनके द्वारा ही करना चाहिये, अन्य साधनों से नहीं ॥६॥

सर्वमेवाथ विज्ञेयं चित्तं ज्ञानमवेक्षते ।
रेतः शरीरभृत्काये विज्ञाता तु शरीरभृत् ॥७॥

ज्ञातव्य वस्तुओं को ज्ञेय, सब पदार्थों के प्रकाशक को ज्ञान तथा सूक्ष्म और स्थूल शरीर के अभिमानी जीव को ज्ञाता कहते हैं ॥७॥

शरीरभृद्गार्हपत्यस्तस्मादन्यः प्रणीयते ।
मनश्चाहवनीयस्तु तस्मिन्प्रक्षिप्यते हविः ॥८॥

जीवात्मा ही गार्हपत्य (हृदय) अग्नि है जोकि शरीर में अन्य भाव से रहता है और मुख (मन) आहवनीय अग्नि

स्वरूप है इस अग्नि में ही हवि डाली जाती है ॥८॥

ततो वाचस्पतिर्जज्ञे तं मनः पर्यवेक्षते ।
रूपं भवति वैवर्णं समनुद्रवते मनः ॥९॥

तदनन्तर वह हवि ही वाणी रूप हो जाती है पुनः मन उत्पन्न होकर उस वाणी को देखता है तत्पश्चात् रूप रहित वायु मनका अनुगामी होता है ॥९॥

ब्राह्मण्युवाच—

कस्माद्वाग भवत्पूर्वं कस्मात्पश्चान्मनोऽभवत् ।
मनसा चिन्तितं वाक्यं यदा समभिपद्यते ॥१०॥

ब्राह्मणी बोली जब वाणी मन से चिन्ता करने के अनन्तर उत्पन्न होती है तब आपने यह कैसे कहा कि वाणी प्रथम उत्पन्न होती है और मन उसके अनन्तर ॥१०॥

केन विज्ञानयोगेन मतिश्चित्तं समास्थिता
समुन्नीता नाध्यगच्छत्को वै तां प्रतिबाधते ॥११॥

और किस प्रमाण के अनुसार आपने यह कहा है कि प्राण, मन के आधीन है और सुषुप्ति अवस्था में प्राण मन के साथ रहने पर भी मन की तरह लय नहीं होता और कहो ! प्राण की ज्ञान शक्ति का कौन अपहरण करता है ॥११॥

ब्राह्मण उवाच—

तापमानः पतिर्भूत्वा तस्मात्प्रेष्यत्यपानताम् ।
तां गतिं मनसः प्राहुर्मनस्तस्मादपेक्षते ॥१२॥

ब्राह्मण ने कहा हे सुभगे ! अपान, प्राण का पति होकर उस को रोक रखता है। मन प्राण की गति के आधीन है किन्तु प्राण मन की गति के आधीन नहीं है। अर्थात् इसी लिये मन का लय होने पर भी प्राण का लय नहीं होता ॥१२॥

प्रश्नं तु वाङ्मनसोर्मां यस्मात्त्वमनुपृच्छसि ।
तस्मात्ते वर्तयिष्यामि तयोरेव समाह्वयम् ॥१३॥

तुमने जो मुझ से वाणी और मन के विषय में प्रश्न किया है उसका उत्तर मैं मन और वाणी के सम्वाद के रूप में ही तुम्हें सुनाऊंगा ॥१३॥

उभे वाङ्मनसी गत्वा भूतात्मानमपृच्छताम् ।
आवयोः श्रेष्ठमाचक्ष्व च्छिन्धि नौ संशयं विभो॥१४॥

एक बार मन और वाणी दोनों जीवात्मा के पास जाकर बोले कि महाराज हम दोनों में कौन श्रेष्ठ है, यह बतला कर हमारा सन्देह दूर कीजिये ॥ १४ ॥

मन इत्येव भगवांस्तदा प्राह सरस्वतीम् ।
अहं वै कामधुक् तुभ्यमिति तं प्राह वागथ ॥१५॥

जीवात्मा ने उत्तर दिया मन ही श्रेष्ठ है। तब वाणी ने कहा कि तुम्हारे लिये मैं ही कामनाओं की सिद्धि करने वाली हूँ तब तुमने मन को श्रेष्ठ क्यों बतलाया ॥१५॥

ब्राह्मण उवाच—

स्थावरं जङ्गमं चैव विद्ध्युभे मनसी मम ।

स्थावरं मत्सकाशे वै जङ्गमं विषये तव ॥१६॥

मन ने कहा, स्थावर अर्थात् बाह्य इन्द्रियों का विषय और जंगम अर्थात् अतीन्द्रिय विषय मन के ही आधीन हैं किन्तु बाह्य इन्द्रियों का विषय मेरे अधिक समीप है और अतीन्द्रिय विषय वाणी के अधिक समीप है ॥१६॥

यस्तु ते विषयं गच्छेन्मन्त्रो वर्णः स्वरोऽपि वा ।
तन्मनो जङ्गमं नाम तस्मादसि गरीयसी ॥१७॥

किन्तु हे वाणी जो अतीन्द्रिय मन्त्रवर्ण तथा स्वर मेरा विषय है वह वाणी के ही द्वारा प्रकट होता है इस प्रकार सांसारिक विषयों पर मेरी और पारलौकिक विषयों पर वाणी की प्रधानता है ॥१७॥

यस्मादपि समाधिस्ते स्वयमभ्येत्य शोभने ।
तस्मादुच्छ्वासमासाद्य प्रवक्ष्यामि सरस्वति ॥१८॥

किन्तु हे सुन्दरी ! तुम सदा अपनी प्रधानता के लिये चेष्टा करती हो इस लिये मैं अपने को तुम से श्रेष्ठ कहा करता हूँ ॥१८॥

प्राणापानान्तरे देवी वाग्वै नित्यं स्म तिष्ठति ।
प्रेर्यमाणा महाभागे विना प्राणमपानती ।
प्रजापतिमुपाधावत्प्रसीद भगवन्निति ॥१९॥

वाणी प्राण के द्वारा प्रेरित होकर प्राण और अपान के अन्दर सदा निवास करती है किन्तु जब इस प्राण की सहायता नहीं

मिलती और अधोगति को प्राप्त होती है तब यह प्रजापति के पास जाकर कहती है कि भगवन् मुझ पर कृपा करो ॥१९॥

ततः प्राणः प्रादुरभूद्वाचमाप्याययन्पुनः ।
यस्मादुच्छ्वासमासाद्य न वाग्वदति कर्हिचित्॥२०॥

तब प्रजापति प्राण को उत्पन्न करता है और वह प्राण वाणी को पुष्ट करता है तदनन्तर वाणी उच्छ्वास को प्राप्त होकर अव्यक्त रूप हो जाती है ॥२०॥

घोषिणी जातनिर्घोषा नित्यमेव प्रवर्तते ।
तयोरपि च घोषिण्या निर्घोषैव गरीयसी ॥२१॥

वाणी, व्यक्त तथा अव्यक्त भेद से दो प्रकार की है जिनमें अव्यक्त रूप वाणी श्रेष्ठ कही गयी है क्योंकि वह प्राण और मन के आधीन नहीं है ॥२१॥

गौरिव प्रस्रवत्यर्थान् रसमुत्तमशालिनी ।
सततं स्यन्दते ह्येषा शाश्वतं ब्रह्मवादिनी ॥२२॥

जिस प्रकार गाय उत्तम रस का प्रदान करती है । उसी प्रकार व्यक्त वाणी निरन्तर ब्रह्म का उपदेश देती है ॥२२॥

दिव्यादिव्यप्रभावेन भारती गौः शुचिस्मिते ।
एतयोरन्तरं पश्य सूक्ष्मयोः स्यन्दमानयोः ॥२३॥

व्यक्त तथा अव्यक्त रूप में प्रभाव वाली "वाणी" है और इन दोनों अवस्थाओं में जिस प्रकार यह उत्तम पदार्थों का प्रदान करती है उसे तुम ध्यान से देखो ॥२३॥

ब्राह्मण्युवाच—

अनुत्पन्नेषु वाक्येषु चोद्यमाना विवक्षया ।
किं नु पूर्वं तदा देवी व्याजहार सरस्वती ॥२४॥

ब्राह्मणी बोली ! हे महाराज ! अव्यक्त होने से पूर्व वाणी किस अवस्था में रहती है यह बतलाइये ॥२४॥

ब्राह्मण उवाच—

प्राणेन या संभवते शरीरे प्राणादपानं प्रतिपद्यते च । उदानभूता च विसृज्य देहं व्यानेन सर्वं दिवमावृणोति ॥२५॥

ततः समाने प्रतितिष्ठतीह इत्येव पूर्वं प्रजजल्प वाणी । तस्मान्मनः स्थावरत्वाद्विशिष्टं तथा देवी जङ्गमत्वाद्विशिष्टा ॥२६॥

ब्राह्मण ने कहा हे देवि ! पहिले वाणी शरीरस्थ प्राण वायु से प्रस्फुरित होती है और फिर वह अपान वायु में जाकर मिलती है तदनन्तर उदान वायु के सहारे से शरीर को छोड़ कर व्यान वायु के सहारे से मस्तिष्क में पहुंचती है तब समान वायु के आधार पर व्यक्त अवस्था को प्राप्त होती है इस लिये सांसारिक विषयों का अधिष्ठाता होने के कारण मन श्रेष्ठ है । और अतीन्द्रिय विषयों की अधिष्ठात्री होने के कारण वाणी श्रेष्ठ है अर्थात् मन को ही चेष्टा से प्राण आदि वायु वाणी को उत्पन्न करते हैं और वह वाणी व्यक्त अवस्था में पहुंच कर लोक का बड़ा कल्याण करती हैं इसलिये मन

और वाणी दोनों ही अपनी अपनी अवस्था में उपकारक होने से श्रेष्ठ हैं ॥ २५—२६ ॥

शब्द शास्त्र में भी यह ही वर्णन आता है कि आत्मा, बुद्धि से विषयों को जानकर बोलने की इच्छा से मन को प्रेरणा करता है और मन शरीरस्थ अग्नि को प्रेरित करता है और अग्नि वायु को प्रेरणा करता है तब वायु तालु आदि स्थानों में पहुंच कर अव्यक्त वाणी को व्यक्त करता है इस सम्पूर्ण अध्याय का तात्पर्य यह है कि पुरुष इन्द्रियों के द्वारा जिस प्रकार के भी विषयों का भोग करता है उसका वैसा ही मन बनता है, वैसे ही वाणी बन जाती है और यदि यह विवेचन किया जाय कि जीवात्मा के ऊपर मन का अधिक प्रभाव होता है या वाणी का, तो शास्त्र यह निश्चय करता है कि प्रभाव दोनों का समान है यद्यपि मन इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने के कारण जीवात्मा पर बाह्य विषयों का अधिक प्रभाव उत्पन्न करता है तब यह वाणी व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों रूप से जीवात्मा पर प्रभाव डालती है इसलिये वाणी का भी प्रभाव मन पर कम नहीं होता। इसलिये जो पुरुष कल्याण की कामना करता है वह आहार शुद्धि से मन तथा संकल्प विकल्पात्मक अव्यक्त वाणी तथा व्यक्त वाणी इन सब की ही पवित्रता का उद्योग करता है

श्री ब्राह्मण गीता का षष्ठाध्याय समाप्त

सप्तम अध्यायप्रारम्भ

ब्राह्मण उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सुभगे सप्तहोतॄणां विधानमिह यादृशम् ॥१॥

ब्राह्मण बोला ! इसी विषय को सात होताओं के उपाख्यान से भी कहा करते हैं। उस उपाख्यान को तुम सुनो ॥ १ ॥

घ्राणश्चक्षुश्च जिह्वा च त्वक् श्रोत्रं चैव पञ्चमम् ।
मनोबुद्धिश्च सप्तैते होतारः पृथगाश्रिताः ॥२॥

नाक, चक्षु, जिह्वा, त्वचा, श्रोत्र, मन और बुद्धि ये सात प्रथक् प्रथक् "होता" हैं ॥ २ ॥

सूक्ष्मेऽवकाशे तिष्ठन्तो न पश्यन्तीतरेतरम् ।
एतान्वै सप्तहोतॄंस्त्वं स्वभावाद्विद्धि शोभने ॥३॥

ये सूक्ष्म अवकाश में रहते हुए भी परस्पर एक दूसरे को नहीं देखते। यह इनका स्वाभाविक धर्म है इस बात को हे सुभगे ! तुम अच्छी तरह समझलो ॥ ३ ॥

ब्राह्मण्युवाच—

सूक्ष्मेऽवकाशे सन्तस्ते कथं नान्योन्यदर्शिनः ।
कथं स्वभावा भगवन्नेतदाचक्ष्व मे प्रभो ॥४॥

ब्राह्मणी बोली हे भगवन् ! सूक्ष्म स्थान में रहते हुए यह परस्पर अनभिज्ञ कैसे रहते है। और इनका क्या स्वभाव है। यह कृपा कर बतलाइये ॥ ४ ॥

ब्राह्मण उवाच—

गुणाज्ञानमविज्ञानं गुणज्ञानमभिज्ञता ।
परस्परं गुणानेते नाभिजानन्ति कर्हिचित् । ॥५॥

ब्राह्मण बोला ! ये सातों पदार्थ अपने अपने गुणों को जानते हैं और दूसरों के गुणों को नहीं जानते इसलिये ये एक दूसरे से अनभिज्ञ रहते हैं ॥ ५ ॥

जिह्वा चक्षुस्तथा श्रोत्रं त्वङ्मनो बुद्धिरेव च ।
न गन्धानधिगच्छन्ति घ्राणस्तानधिगच्छति ॥६॥

जिह्वा, नेत्र, कान त्वचा, मन, बुद्धि गन्ध को ग्रहण नहीं कर सकती किन्तु नासिका ही उसका ग्रहण करती है ॥ ६ ॥

घ्राणं चक्षुस्तथा श्रोत्रं त्वङ्मनो बुद्धिरेव च ।
न रसानधिगच्छन्ति जिह्वा तानधिगच्छति ॥७॥

नासिका, नेत्र, कान, त्वचा, मन, बुद्धि, ये रस को ग्रहण नहीं कर सकती किन्तु रसना ही इन का ग्रहण करती है ॥ ७ ॥

घ्राणं जिह्वा तथा श्रोत्रं त्वङ्मनो बुद्धिरेव च ।
न रूपाण्यधिगच्छन्ति चक्षुस्तान्यधिगच्छति ॥८॥

नासिका, रसना, कान, त्वचा, मन, और बुद्धि, ये रूप का ग्रहण नहीं कर सकती किन्तु चक्षु ही रूप का ग्रहण करती है ॥ ८

घ्राणं जिह्वा ततश्चक्षुः श्रोत्रं बुद्धिर्मनस्तथा ।
न स्पर्शानधिगच्छन्ति त्वक्च तानधिगच्छति ॥९॥

नासिका, रसना, नेत्र, कान, बुद्धि, और मन, ये स्पर्श का ग्रहण नहीं कर सकते, त्वचा ही स्पर्श का ग्रहण करती है ॥ ९ ॥

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वङ्मनोबुद्धिरेव च ।
न शब्दानधिगच्छन्ति श्रोत्रं तानधिगच्छति ॥१०॥

नासिका, रसना, चक्षु, त्वचा, मन, और बुद्धि, ये शब्द का ग्रहण नहीं कर सकते, किन्तु कान ही उसका ग्रहण करता है ॥ १०

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् श्रोत्रं बुद्धिरेव च ।
संशयं नाधिगच्छन्ति मनस्तमधिगच्छति ॥११॥

नासिका, रसना, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र, और बुद्धि संकल्प विकल्प को ग्रहण नहीं करते किन्तु मन ही इनका ग्रहण करता है॥११

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् श्रोत्रं मन एव च ।
न निष्ठामधिगच्छन्ति बुद्धिस्तमधिगच्छति ॥१२॥

नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, श्रोत्र तथा मन किसी वस्तु का निश्चय नहीं कर सकते यह कार्य बुद्धि का है ॥ १२ ॥

अत्राप्युदाहरन्तिममितिहासं पुरातनम् ।
इन्द्रियाणां च संवादं मनसश्चैव भामिनि ॥१३॥

इस विषय के वर्णन में भी एक पुरातन उपाख्यान है जिसमें इन्द्रियें और मन का सम्वाद है ॥ १३ ॥

मन उवाच—

नाघ्राति मामृते घ्राणं रसं जिह्वा न वेत्ति च ।
रूपं चक्षुर्न गृह्णाति त्वक् स्पर्शं नावबुध्यते ॥१४॥

न श्रोत्रं बुध्यते शब्दं मया हीनं कथंचन।
प्रवरं सर्वभूतानामहमस्मिसनातनम् ॥ १५ ॥

मन बोला ! मेरे बिना नासिका सूंघ नहीं सकती, रसना रस का ग्रहण नहीं कर सकती, आँख रूप को नहीं देख सकती, त्वचा—स्पर्श का ग्रहण नहीं कर सकती, कान—शब्द नहीं सुन सकते अर्थात् इन्द्रियें मेरी सहायता के बिना कुछ भी नहीं कर सकती इसलिए मैं तुम सब से श्रेष्ठ हूँ ॥ १४—१५ ॥

अगाराणीव शून्यानि शान्तार्चिष इवाग्नयः।
इन्द्रियाणि न भासन्ते मया हीनानि नित्यशः॥१६॥

मेरे बिना इन्द्रियें सूने घर की तरह से और लपटें रहित अग्नि की तरह से शून्य होती हैं ॥ १६ ॥

काष्ठानीवार्द्रशुष्काणि यतमानैरपीन्द्रियैः।
गुणार्थान्नाधिगच्छन्ति मामृते सर्वजन्तवः ॥१७॥

सम्पूर्ण प्राणी मेरे बिना केवल इन्द्रियों की सहायता से गीली लकड़ियों की तरहसे विषयोंका ग्रहण नहीं कर सकते ॥१७॥

इन्द्रियाण्यूचुः—

एवमेतद्भवेत्सत्यं यथैतन्मन्यते भवान्।
ऋतेऽस्मानस्मदर्थांस्त्वं भोगान् भुङ्क्ते भवान् यदि

इन्द्रियें बोलीं यदि आप हमारी बिना सहायता के सम्पूर्ण विषयों का ग्रहण करलें तो जो आपने कहा है वह यथार्थ है ॥१८॥

यद्यस्मासु प्रलीनेषु तर्पणं प्राणधारणम् ।
भोगान् भुङ्क्ते भवान् सत्यं यथैतन्मन्यते तथा १६

यदि हमारे न रहने पर आप प्राणों का धारण कर सके और सब भोगोंको भोग सकें तो! आपका कहना सर्वथा सत्य है ॥१९॥

अथवाऽस्मासु लीनेषु तिष्ठत्सु विषयेषु च ।
यदि संकल्पमात्रेण भुङ्क्ते भोगान् यथाथवत्॥२०॥

या हमारे लीन हो जाने पर, और विषयों के रहने पर, यदि आप केवल संकल्प से ही उन विषयों का ज्ञान प्राप्त करलें तब भी आपका कहना सत्य मानलें ॥ २० ॥

अथ चेन्मन्यसे सिद्धिमस्मदर्थेषु नित्यदा ।
घ्राणेन रूपमादत्स्व रसमादत्स्व चक्षुषा ॥२१॥
श्रोत्रेण गन्धानादत्स्व स्पर्शानादत्स्व जिह्वया ।
त्वचा च शब्दमादत्स्व बुद्ध्या स्पर्शमथापि च ॥२२॥

यदि आप यह समझते हैं कि हमारे विषयों में ही सिद्धि है तो आप नासिका से रूप का ग्रहण करके दिखाओ, नेत्रों से स्वाद को पहचानों। कानों से सुगन्ध और दुर्गन्ध का अनुभव करो, रसना से गर्मी और सर्दी को जानो, और त्वचा से शब्द को सुनो या बुद्धि से ही स्पर्श का अनुभव करो ॥ २१—२२ ॥

बलवन्तो ह्यनियमा नियमा दुर्बलीयसाम् ।
भोगान पूर्वानादत्स्व नोच्छिष्टं भोक्तुमर्हति ॥२३॥

आप तो बलवान हैं इसलिए आप के लिए तो कोई नियम न होना चाहिए क्योंकि नियम दुर्बलों के लिए होते हैं। अतः अपूर्व भोगों को स्वयं प्राप्त करो, और हमारे द्वारा भोगे हुए विषयों को उच्छिष्ट भोजन की तरह से मत खाओ ॥ २३ ॥

यथा हि शिष्यः शास्तारं श्रुत्यर्थमभिधावति ।
ततः श्रुतमुपादाय श्रुत्यर्थमुपतिष्ठति ॥२४॥
विषयानेवमस्माभिर्दर्शितानभिमन्यसे ।
अनागतानतीतांश्च स्वप्ने जागरणे तथा ॥२५॥

जिस प्रकार एक शिष्य अपने गुरु से उपदेश ग्रहण करता है और फिर उस उपदेश को सुनकर उसके अर्थ का विचार करता है इसी प्रकार तुम हमसे दिखलाये हुये भूत तथा वर्तमान विषयों को स्वप्नावस्था तथा जागृतावस्था में जानते हो ॥ २४—२५ ॥

वैमनस्यं गतानां च जन्तूनामल्पचेतसाम् ।
अस्मदर्थे कृते कार्ये दृश्यते प्राणधारणम् ॥२६॥

छोटे जन्तु वैमनस्य को प्राप्त होकर हमारे ही द्वारा प्राण को धारण करते हैं ॥ २६ ॥

बहूनपि हि संकल्पान् मत्वा स्वप्नानुपास्य च ।
बुभुक्षया पीड्यमानो विषयानेव धावति ॥२७॥

मनुष्य संकल्प विकल्प रूप विषयों का भोग करके और स्वपनावस्था के आनंद को अनुभव करके भी भूख से पीड़ित होकर हमारे द्वारा विषयों को ही भोगने की इच्छा करता है ॥२७॥

अगारमङ्गारमिव प्रविष्य संकल्पभोगान् विषये निबद्धान् । प्राणक्षये शान्तिमुपैति नित्यं दारुक्षयेऽग्निर्ज्वलितो यथैव ॥२८॥

सुषुप्ति तथा समाधि अवस्था में जब मनका इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता तब अन्य विषयों का प्रवेश बंद हो जाने से वासनास्थित विषयों का भोग करके जीवात्मा इस प्रकार शान्ति को प्राप्त करता है जिस प्रकार काष्ठ के समाप्त हो जाने पर जलता हुआ अग्नि शान्त हो जाता है ॥२८॥

(इससे पूर्व श्लोक में यह बताया जा चुका है जब तक मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध रहता है उस समय तक जीवात्मा विषय भोगों में लिप्त रहता है, और जब मनका इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात सुषुप्ति और समाधि अवस्था में जीवात्मा विषयों से विनिवृत्त हो जाता है। क्योंकि इन्द्रियों का सम्बन्ध न होने से विषयों का भोग नहीं हो सकता यह ठीक इसी प्रकार होता है जैसे लकड़ियों के न मिलने से अग्नि शान्त हो जाती है। यहां पर यह भी सूचित किया गया है कि इन्द्रियों का प्राधान्य इस कारण भी है कि मन उनके बिना किसी विषय का ग्रहण नहीं कर सकता)

कामं तु नः स्वेषु गुणेषु सङ्गः कामं च नान्योन्यगुणोपलब्धिः । अस्मान्विना नास्ति तपोपलब्धिस्तावद्दते त्वां न भजेत्प्रहर्षः ॥२९॥

चाहे हमारा सम्बन्ध अपने गुणों से ही है और चाहे हम परस्पर एक दूसरे के गुणों को न जान सकें किन्तु हे मन ! तुम हमारे बिना किसी विषय का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते और तुम्हारे बिना हम भी किसी विषय का उपभोग नहीं कर सकते ॥२५॥

श्रीब्राह्मण गीता का सप्तम अध्याय समाप्त

अष्टम अध्याय

ब्राह्मण उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सुभगे पञ्चहोतॄणां विधानमिह यादृशम् ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला हे प्रिये ! इस ही विषय का वर्णन पांच होताओं के सम्वाद रूप उपाख्यान से भी प्राचीन आचार्यों ने कहा है ॥१

प्राणापानावुदानश्च समानो व्यान एव च ।
पञ्चहोतॄंस्तथैतान्वै परं भावं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥

प्राण, अपान, उदान, समान, और व्यान ये पांच होता हैं और इस विषय को ही प्राचीन आचार्य्यों ने उत्तम तत्त्व कहा है ॥२॥

ब्राह्मण्युवाच—

स्वभावात्सप्त होतार इति मे पूर्विका मतिः ।
यथा वै पञ्च होतारः परो भावस्तदुच्यताम् ।

ब्राह्मणी बोली महाराज ! सात होताओं के उपाख्यान से जिस विषय का आपने वर्णन किया है उसे मैं सुन चुकी हूँ। अब उससे उत्तम जो पांच होताओं का उपाख्यान है उसे सुनाइये ॥३॥

ब्राह्मण उवाच—

प्राणेन संभृतो वायुरपानो जायते ततः।
अपाने संभृतो वायुस्ततो व्यानः प्रवर्तते ॥ ४ ॥
व्यानेन संभृतो वायुस्ततोदानः प्रवर्तते।
उदाने संभृतो वायुः समानो नाम जायते ॥ ५ ॥

ब्राह्मण बोला हे सुभगे ! वायु प्राण के द्वारा पुष्ट होकर अपान रूप, अपान से पुष्ट होकर व्यान रूप, व्यान से पुष्ट होकर उदान रूप, उदान से पुष्ट होकर समान रूप हो जाता है। अर्थात् वायु ही शरीर में स्थान भेद से पाँच प्रकार का हो जाता है ॥४—५॥

(मुख और नासिका के द्वारा जो वायु शरीर में आता है उसे प्राण, गुदा आदि इन्द्रियों से जो वायु शरीर से बाहर निकलता है उसे अपान, नाभी में रहने वाले वायु को समान, सम्पूर्ण शरीरस्थ वायु को व्यान, और कण्ठस्थ वायु को उदान कहते हैं)

तेऽपृच्छन्त पुरा सन्तः पूर्वजातं पितामहम्।
यो नः श्रेष्ठस्तमाचक्ष्व स नः श्रेष्ठो भविष्यति ॥६॥

एक समय यह पांचों प्राण प्रजापति के पास गये और बोले महाराज ! जो हम में श्रेष्ठ है उसे बतलाइये फिर हम उसे ही श्रेष्ठ समझा करेंगे ॥ ६ ॥

ब्रह्मोवाच—

यस्मिन्प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे। यस्मिन्प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति स वै श्रेष्ठो गच्छत यत्र कामः ॥ ७ ॥

प्रजापति बोले जिसके शरीर में से निकल जाने पर अन्य भी निकल जाते हैं और जिसके आ जाने से वह फिर आजाते हैं वही तुम सब में श्रेष्ठ है अब जाओ! वहाँ नियम इसका निर्णय करेगा ॥ ७ ॥

प्राण उवाच—

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे। मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ ८ ॥

प्राण बोला मेरे चले जाने पर शरीर में अन्य अपानादि नहीं रहते और मेरे आ जाने पर यह सब आ जाते हैं इसलिये मैं श्रेष्ठ हूँ देखो! मैं जाता हूँ ॥ ८ ॥

ब्राह्मण उवाच—

प्राणः प्रालीयत ततः पुनश्च प्रचचार ह।
समानश्चाप्युदानश्च वचोऽब्रूतां पुनः शुभे ॥ ९ ॥

ब्राह्मण बोला, यह कह कर प्राण चला गया और फिर आगया तब उससे समान और उदान ने कहा ॥ ९ ॥

न त्वं सर्वमिदं व्याप्य तिष्ठसीह यथा वयम्।
न त्वं श्रेष्ठो हि नः प्राण अपानो हि वशे तव।
प्रचचार पुनः प्राणस्तमपानोऽभ्यभाषत ॥ १० ॥

हे प्राण तू इस सम्पूर्ण शरीर में हमारी तरह व्यापक नहीं इसलिये तू श्रेष्ठ नहीं है। क्यों कि तेरे बिना भी हम शरीर में रह सकते हैं। केवल अपान ही तेरे वस में है तब अपान ने कहा ॥१०

अपान उवाच--

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे। मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम्॥ ११ ॥

अपान बोला, मेरे चले जाने पर अंगों की स्थिति नहीं हो सकती और मेरे आ जाने पर सब आ जाते है इसलिये मैं श्रेष्ठ हूँ देखो! मैं जाता हूँ॥ ११ ॥

ब्राह्मण उवाच—

व्यानश्च तमुदानश्च भाषमाणमथोचतुः।
अपान न त्वं श्रेष्ठोऽसि प्राणो हि वशगस्तव ॥१२॥

ब्राह्मण बोला, कि तब व्यान और उदान ने कहा हे अपान तुम श्रेष्ठ नहीं हो। केवल प्राण ही तुम्हारे वश में है॥ १२॥

अपानः प्रचचाराथ व्यानस्तं पुनरब्रवीत्।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥१३॥

अपान फिर आगया तब व्यान ने कहा कि जिस कारण मैं श्रेष्ठ हूँ वह सुनो ॥ १३ ॥

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे। मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ १४ ॥

मेरे चले जाने से सब चले जाते है मेरे आजाने से सब आ जाते हैं इसलिये मैं श्रेष्ठ हूँ देखो मैं जाता हूँ ॥ १४ ॥

ब्राह्मण उवाच—

प्रालीयत ततो व्यानः पुनश्च प्रचचार ह ।
प्राणापानावुदानश्च समानश्च तमब्रुवन् ॥१५॥

ब्राह्मण बोला तब व्यान चला गया और फिर आगया । उस समय प्राण, अपान उदान और समान ने कहा ॥ १५ ॥

न त्वं श्रेष्ठोऽसि नो व्यान समानस्तु वशे तव ।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥१६॥

हे व्यान तुम श्रेष्ठ नहीं हो केवल समान ही तुम्हारे बस में है समान बोला जिस कारण मैं श्रेष्ठ हूँ उसे सुनो ॥ १६ ॥

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृताँ शरीरे । मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ १७ ॥

मेरे चले जाने से सब चले जाते हैं मेरे आजाने से सब आ जाते हैं देखो मैं जाता हूँ ॥ १७ ॥

समानः प्रचचाराथ उदानस्तमुवाच ह ।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥१८॥

समान आगया ! फिर उदान ने कहा कि जिस कारण मैं श्रेष्ठ हूँ वह सुनो ॥ १८ ॥

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे । मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ १९ ॥

मेरे चले जाने पर शरीर में कोई भी नहीं रह सकता मेरे आ जाने पर सब आ जाते हैं अतः मैं श्रेष्ठ हूँ देखो मैं जाता हूँ ॥१९॥

ततः प्रालीयतोदानः पुनश्च प्रचचार ह ।
प्राणापानौ समानश्च व्यानश्चैव तमब्रुवन् ॥
उदान न त्वं श्रेष्ठोऽसि व्यान एव वशे तव ॥२०॥

तब उदान चला गया, और फिर वापिस आ गया उस समय प्राण अपान समान और व्यान ने कहा हे ! उदान तुम श्रेष्ठ नहीं हो केवल व्यान ही तुम्हारे वश में है ॥ २० ॥

ब्राह्मण उवाच—

ततस्तानब्रवीद्ब्रह्मा समवेतान्प्रजापतिः ।
सर्वे श्रेष्ठा न वा श्रेष्ठाः सर्वे चान्योन्यधर्मिणः॥२१॥

सर्वे स्वविषये श्रेष्ठाः सर्वे चान्योन्यधर्मिणः ।
इति तानब्रवीत्सर्वान्समवेतान्प्रजापतिः ॥२२॥

ब्राह्मण बोला, तब उन सबसे प्रजापति ने कहा ! तुम सब श्रेष्ठ हो और श्रेष्ठ नहीं भी हो । एक दूसरे से स्वतन्त्र नही हो सब श्रेष्ठ भी हो और सब एक दूसरे के आश्रित भी हो अर्थात् तुम में से किसी एक के लय हो जाने मे तुम श्रेष्ठ हो किन्तु तुममें से कोई भी स्वाधीन नहीं है इसलिये श्रेष्ठ नही हो ॥ २१—२२ ॥

एकः स्थिरश्चास्थिरश्च विशेषात्पंच वायवः ।
एक एव ममैवात्मा बहुधाप्युपचीयते ॥२३॥

जिस प्रकार एक प्राण भी स्थिर तथा अस्थिर होकर विविध स्थानों के भेद से पांच नामों को धारण करता है इसी प्रकार एक ही आत्मा स्थान भेद से भिन्न रूपों में दिखाई देता है ॥ २३ ॥

परस्परस्य सुहृदो भावयन्तः परस्परम् ।
स्वस्ति व्रजत भद्रं वो धारयध्वं परस्परम् ॥२४॥

तुम्हारा कर्त्तव्य है कि परस्पर मित्र भाव से एक दूसरे का ध्यान रखते हुये एक दूसरे की सहायता करो ॥ २४ ॥

श्रीब्राह्मण गीता का अष्टम अध्याय समाप्त

नवम अध्याय

ब्राह्मण उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादमृषेर्देवमतस्य च ॥१॥

ब्राह्मण बोला इस विषय में एक प्राचीन उपाख्यान है जो नारद तथा देवमत ऋषि के सम्वाद रूप में है ॥ १ ॥

देवमत उवाच—

जन्तोः संजायमानस्य किं नु पूर्वं प्रवर्तते ।
प्राणोऽपानः समानो वा व्यानो वोदान एव च ॥२॥

देवमत ने पूछा ! जब प्राणी शरीर को धारण करता है उस समय प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान इन में से पहिले किस की प्रवृत्ति होती है ॥ २ ॥

नारद उवाच—

येनायं सृज्यते जन्तुस्ततोऽन्यः पूर्वमेति तम् ।
प्राण द्वन्द्वं हि विज्ञेयं तिर्यगूर्ध्वमधश्च यत् ॥३॥

नारद जी बोले ! जो इस प्राणी को उत्पन्न करता है और उससे भी पूर्व रहता है उसको प्राण द्वन्द्व तिर्यक् ऊर्ध्व और अधः कहते है ॥ ३ ॥

देवमत उवाच—

केनायं सृज्यते जन्तुः कश्चान्यः पूर्वमेति तम् ।
प्राणद्वन्द्वं च मे ब्रूहि तिर्यगूर्ध्वमधश्च यत् ॥४॥

देवमत ने कहा, किस कारण से यह जीवात्मा जन्म मरण के बन्धन में आता है और कौन इसमें पूर्व रहता है। प्राण द्वन्द्व, तिर्यक, ऊर्ध्व, और अधः किसे कहते हैं ॥४॥

नारद उवाच—

संकल्पाज्जायते हर्षः शब्दादपि च जायते ।
रसात्संजायते चापि रूपादपि च जायते ॥५॥

महर्षि नारद बोले, संकल्प से हर्ष उत्पन्न होता है, शब्द, रस, तथा रूप से भी हर्ष उत्पन्न होता है ॥५॥

(अर्थात् आनन्द स्वरूप परमात्मा इस संसार का असाधारण कारण है और विषय वासना भी इस जगत का कारण है तात्पर्य यह है कि सृष्टि के दो प्रयोजन हैं एक तो ईश्वर के गुणों की सफलता, दूसरा जीवात्मा के वासना रूप कर्मों का भोग)

शुक्राच्छोणितसंसृष्टात्पूर्वं प्राणः प्रवर्तते ।
प्राणेन विकृते शुक्रे ततोऽपानः प्रवर्तते ॥६॥

वासना संयुक्त अदृष्ट से जीवात्मा शरीर धारण करता है और उस शरीर से जब अदृष्ट विकृत हो जाता है तब मृत्यु होती है ॥६

शुक्रात्संजायते चापि रसादपि च जायते ।
एतद्रूपमुदानस्य हर्षो मिथुनमन्तरा ॥७॥

पूर्व जन्म में संचित, अदृष्ट और वासनाओं से जीवात्मा जन्म मृत्यु के बन्धन में फंसता है, और इस कार्य कारण के मध्य में जीवात्मा निवास करता है ॥७॥

कामात्संजायते शुक्रं शुक्रात्संजायते रजः ।
समानव्यानजनिते सामान्ये शुक्रशोणिते ॥८॥
प्राणापानाविदं द्वन्द्वमवाक् चोर्ध्वं च गच्छतः ।
व्यानः समानश्चैवोभौ तिर्यद्वन्द्वत्वमुच्यते ॥९॥

ज्ञान से अदृष्ट उत्पन्न होता है, और अदृष्ट से प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और यही अदृष्ट और प्रवृत्ति जीवात्मा के बन्धन का कारण है। यही एक मिथुन ऐसा है जो जीवात्मा को ऊंच या नीच गतियों में ले जाता है। व्यान और समान, के प्रभाव से तिर्यक् गति उत्पन्न होती है ॥८—९॥

अग्निर्वै देवताः सर्वा इति देवस्य शासनम् ।
संजायते ब्राह्मणस्य ज्ञानं बुद्धिसमन्वितम् ॥१०॥

श्रुति कहती है कि जीवात्मा ही कर्मों का कर्ता तथा भोक्ता है। और जब वह ज्ञान की इच्छा करता है तब श्रुति के श्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त करता है ॥१०॥

तस्य धूमस्तमोरूपं रजो भस्म सुतेजसः ।
सर्वं संजायते तस्य यत्र प्रक्षिप्यते हविः ॥११॥

उस उत्तम तेज युक्त अग्नि का तमोरूप धूप और रजो रूप भस्म है जिसमें हवि रूपी भोग्य वस्तुऐं डाली जाती हैं और उस अग्नि रूप जीवात्मा से ही इनकी उत्पत्ति होती है ॥११॥

सत्त्वात्समानो व्यानश्च इति यज्ञविदो विदुः ।
प्राणापानावाज्यभागौ तयोर्मध्ये हुताशनः ॥१२॥

तत्त्व वेत्ता ऋषियों का मत है कि बुद्धि से तमोगुण तथा रजोगुण उत्पन्न होता है। प्राण और अपान अर्थात् जीवन और मृत्यु ही इस अग्नि के लिये घृत रूप हैं ॥१२॥

(इन श्लोकों में यह बताया गया है कि यद्यपि इस सम्पूर्ण सृष्टि का कर्त्ता आनन्द स्वरूप परमात्मा ही है किन्तु जीवात्मा के बन्धन का कारण इसकी काम और वासना है) सात्विक बुद्धि को धारण करके यह जीवात्मा उत्तम गति को प्राप्त करता है और रजोगुण तथा तमोगुण के आश्रय से संसार में ऊंच तथा नीच गतियों को प्राप्त करता है।

एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः।
निर्द्वन्द्वमिति यच्चैतत्तन्मे निगदतः शृणु ॥१३॥

ज्ञानी पुरुष जीवात्मा के बन्धन के कारण को तथा इन ऊंची नीची गतियों को जानते हैं। अब मैं तुम्हें वह ज्ञान बताऊंगा कि जिससे यह जीव परब्रह्म के समीप जाता है और बन्धन से छूटता है ॥१३॥

अहोरात्रमिदं द्वन्द्वं तयोर्मध्ये हुताशनः।
एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥१४॥
सच्चासच्चैव तद्द्वन्द्वं तयोर्मध्ये हुताशनः।
एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥१५॥
ऊर्ध्वं समानो व्यानश्च व्यस्यते कर्म तेन तत्।
तृतीयं तु समानेन पुनरेव व्यवस्यते ॥१६॥

विद्वान् ब्राह्मण यह समझते हैं कि वस्तुतः जीवात्मा ज्ञान और अज्ञान, उत्पत्ति और प्रलय, कार्य्य और कारण में लिप्त नहीं होता और जिस संकल्प तथा अदृष्ट के द्वारा यह बन्धन में आता है वह संकल्प ही कर्मों का कारण है और उस संकल्प को अच्छी तरह जान लेने पर ही विद्वान् तत्त्ववेत्ताओं के हृदयों में परमात्मा का ज्ञान प्रकाशित होता है ॥१४—१६॥

शान्त्यर्थं व्यानमेकं च शान्तिर्ब्रह्म सनातनम् ।
एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥१७॥

कार्य्य कारण के ज्ञान और परब्रह्म के ज्ञान का ही नाम शान्ति है। और इस ज्ञान के उदय होने से ही हृदय में परब्रह्म का प्रकाश होता है ॥१७॥

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि जीवात्मा के बन्धन का कारण क्या है और जो पुरुष इस बन्धन के कारण को तत्त्वतः जान लेता है वही इस बन्धन से मुक्त होकर शान्ति प्राप्त करता है। इस अध्याय में प्राण अपानादि शब्द उन अर्थों में प्रयुक्त नहीं हुये हैं जिन अर्थों में पहले लिख आये हैं। यह सब आलंकारिक भाषा है और अलंकार से ही जीवात्मा के बन्धन तथा मोक्ष का कारण इस अध्याय में बतलाया गया है।

श्री ब्राह्मण गीता का नवम अध्याय समाप्त

दशम अध्याय

ब्राह्मण उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
चातुर्होत्रविधानस्य विधानमिह यादृशम् ॥१॥

ब्राह्मण बोला हे देवि ! इस विषय में भी चार होताओं का एक प्राचीन उपाख्यान है ॥१॥

तस्य सर्वस्य विधिवद्विधानमुपदिश्यते ।
शृणु मे गदतो भद्रे रहस्यमिदमद्भुतम् ॥२॥

मैं अब उस यज्ञ का वर्णन करता हूँ। तुम उस अद्भुत तत्त्व को ध्यान पूर्वक सुनो ॥२॥

करणं कर्म कर्ता च मोक्ष इत्येव भाविनि ।
चत्वार एते होतारो यैरिदं जगदावृतम् ॥३॥

हे बुद्धिमति ! करण, कर्म, कर्ता, और मोक्ष यह चार होता हैं। और यह सम्पूर्ण जगत इनके द्वारा आवृत है ॥३॥

हेतूनाँ साधनं चैवं शृणु सर्वमशेषतः ।
घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक्च श्रोत्रं च पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैते विज्ञेया गुणहेतवः ॥४॥

यद्यपि हम पहले दश प्राण आदि सात होता बतला चुके हैं किन्तु यह नहीं बतलाया कि किस का कौन कारण है इस लिये इस विषय को अब कहते हैं ध्यान पूर्वक सुनो । नासिका,

जिव्हा, आंख, त्वचा, श्रोत्र, मन और बुद्धि यह अविद्या से उत्पन्न होते हैं ॥४॥

गन्धो रसश्च रूपं च शब्दः स्पर्शश्च पञ्चमः ।
मन्तव्यमथ बोद्धव्यं सप्तैते कर्महेतवः ॥५॥

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, विचार, और ज्ञान, कर्म से उत्पन्न होते हैं ॥५॥

घ्राता भक्षयिता द्रष्टा वक्ता श्रोता च पञ्चमः ।
मन्ता बोद्धा च सप्तैते विज्ञेयाः कर्तृहेतवः ॥६॥

सूंघने वाला, खाने वाला, बोलने वाला, सुनने वाला, विचार करने वाला, और जानने वाला, यह कर्ता से होते हैं ॥६॥

स्वगुणं भक्षयन्त्येते गुणवन्तः शुभाशुभम् ।
अहं च निर्गुणोऽनन्तः सप्तैते मोक्षहेतवः ॥७॥

यह सकारण सातों अपने २ अच्छे और बुरे कर्मों का भोग करते हैं और जीवात्मा इनका भोक्ता नहीं इसलिए यह सात मोक्ष के भी कारण हैं अर्थात् जब यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि इन्द्रियें ही अपनी विषयों का भोग करती है और जीवात्मा इन इन्द्रियों से पृथक् है तभी मोक्ष प्राप्त होता है ॥७॥

विदुषां बुध्यमानानां स्वं स्वं स्थानं यथाविधि ।
गुणास्ते देवताभूताः सततं भुञ्जते हविः ॥८॥

बुद्धिमान् पुरुष यह समझते हैं कि यह इन्द्रियें ही अपने भोगों का भोग करती हैं ॥८॥

अदृन्नान्यथोऽविद्वान्ममत्वेनोपपद्यते ।
आत्मार्थं पाचयन्नन्नं ममत्वेनोपहन्यते ॥९॥

जो मूर्ख वस्तुतः भोग न करता हुआ भी अहङ्कार से यह समझता है कि मैं अपने लिए भोग करता हूँ वह इस अहङ्कार से ही बन्धन में फंसा रहता है ॥९॥

अभक्ष्य भक्षणं चैव मद्यपानं च हन्ति तम् ।
स चान्नं हन्ति तं चान्नं स हत्वा हन्यते पुनः॥१०॥

अहङ्कारी पुरुषही अभक्ष्य वस्तुओं को खाने लगते हैं मद्यपान करने लगते हैं। वे अन्न को खाते हैं और अन्न उन्हें खालेता है। इस प्रकार वे जन्म और मृत्यु के बन्धन में फंसे रहते हैं॥१०॥

हन्ता ह्यन्नमिदं विद्वान्पुनर्जनयतीश्वरः ।
न चान्नाज्जायते तस्मिन् सूक्ष्मो नाम व्यतिक्रमः॥११॥

जो विद्वान् पुरुष अन्न आदि का नाश करता है अर्थात् इस तत्त्व को निश्चय रूप से समझ लेता है। कि मैं वस्तुतः भोक्ता नहीं हूँ किन्तु इन्द्रियें भोग करती हैं वह जन्म और मृत्यु के बन्धन से छूट जाता है क्योंकि उस पुरुष में संसारिक इन्द्रियें जन्य भोग किन्चित् भी विकार उत्पन्न नहीं करते ॥११॥

मनसा गम्यते यच्च यच्च वाचा निगद्यते ।
श्रोत्रेण श्रूयते यच्च चक्षुषा यच्च दृश्यते ॥१२॥
स्पर्शेन स्पृश्यते यच्च घ्राणेन घ्रायते च यत् ।
मनः षष्ठानि संयम्य हवींष्येतानि सर्वशः ॥१३॥

जो भी कुछ मन तथा वाणी आदि इन्द्रियों से व्यापार होता है उस सबको अन्न के नाम से कहा है और उन सबको ही अग्नि में आहुति रूप से जला देना श्रेष्ठ कर्म है ॥ १२—१३ ॥

गुणवत्पावको मह्यं दीप्यतेऽन्तः शरीरगः ।
योगयज्ञः प्रवृत्तो मे ज्ञानवन्हि प्रदोद्भवः ।
प्राणस्तोत्रोऽपान शस्त्रः सर्व त्याग सुदक्षिणः॥१४॥

मेरे अन्दर एक अत्यन्त श्रेष्ठ अग्नि प्रदीप्त हो रहा है उसमें ज्ञान रूपी अग्नि को उत्पन्न करने वाला योग रूपी यज्ञ हो रहा है। उस यज्ञ में प्राण स्तोता है, अपान स्रुवा आदि शस्त्र है उस यज्ञ की दक्षिणा सर्वस्व त्याग है ॥१४॥

कर्ताऽनुमन्ता ब्रह्मात्मा होताऽध्वर्युः कृतस्तुतिः ।
ऋतं प्रशास्ता तच्छस्त्रमपवर्गोऽस्य दक्षिणा ॥१५॥

अहंकार मन और बुद्धि उस यज्ञ में क्रमशः होता अध्वर्यु और उद्गाता रूप से स्तुति करते हैं सत्य वचन उस यज्ञ का प्रशास्ता है और कैवल्य दक्षिणा है ॥१५॥

ऋचश्चाप्यत्र शंसन्ति नारायणविदो जनाः ।
नारायणाय देवाय यदविन्दन्पशून्पुरा ॥१६॥

ऋग्वेद में भी इस यज्ञ का वर्णन है इस यज्ञ के द्वारा ही जिज्ञासु पुरुष परमात्मा की प्राप्ति के लिये इन्द्रियों का होम करते हैं ॥१६॥

तत्र सामानि गायन्ति तत्र चाहुर्निदर्शनम् ।
देवं नारायण भीरु सर्वात्मानं निबोध तम् ॥१७॥

हे भीरु ! इस यज्ञ में जिसके उद्देश्य से जिज्ञासु पुरुष साम-गान करते हैं दृष्टान्त रूप से कहते हैं उस सर्वात्मा पर ब्रह्म को तुम जानो ॥१७॥

श्रीब्राह्मण गीता का दशम अध्याय समाप्त

एकादश अध्याय

ब्राह्मण उवाच—

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता यो हृच्छ-यस्तमहमनुब्रवीमि । तेनैव युक्तः प्रवणादिवोदकं यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥१॥

ब्राह्मण ने कहा, वह एक ही सबका शासक है जो सबके हृदयों में विराजमान है उस परमात्म देव ही की आज्ञा से मैं इस प्रकार स्वाभाविक रूप से कार्य करता हूँ जिस प्रकार जल स्वाभाविक रूप से नीचे की ओर जाता है ॥१॥

एको गुरुर्नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्त-महमनुब्रवीमि। तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव लोके द्विष्टाः पन्नगाः सर्व एव ॥२॥

वह एक ही संसार का गुरू है जो सब के हृदयों में निवास करता है उसकी आज्ञा से संसार में सर्प आदि अपने स्वभाव से नाशकारी कर्मों में प्रवृत्त होते हैं ॥२॥

एको बन्धुर्नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्त-महमनुब्रवीमि। तेनानुशिष्टा बान्धवा बन्धुमन्तः ससर्षयः पार्थ दिवि प्रभान्ति ॥३॥

वह एक ही सबका बन्धु है जो सबके हृदयों में निवास करता है उसकी आज्ञा से पुरुष एक दूसरे से प्रेम करते हैं और उसी की आज्ञा से श्रेष्ठ पुरुष यश प्राप्त करते हैं ॥३॥

एकः श्रोता नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छ-यस्तमहमनुब्रवीमि। तस्मिन्गुरौ गुरुवासं निरुष्य शक्रो गतः सर्वलोकामरत्वम् ॥४॥

वह एक ही श्रोता है जो सबके हृदयों में निवास करता है उस गुरू के पास रह कर ही इन्द्र ने अमृत्व को प्राप्त किया ॥४॥

एको द्वेष्टा नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्त-महमनुब्रवीमि। तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव लोके द्विष्टाः पन्नगाः सर्व एव ॥५॥

वह एक ही इस संसार में द्वेष है जो हृदय मे निवास करता है उसी की आज्ञा से दुष्ट बुरे भाव में प्रवृत होते है ॥५॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रजापतौ पन्नगानां देवर्षीणां च संविदम् ॥६॥

इस विषय में भी एक प्राचीन उपाख्यान है जिसमें प्रजापति के समीप राक्षसों, देवताओं और ऋषियों का सम्वाद है ॥६॥

देवर्षयश्च नागाश्चाप्यसुराश्च प्रजापतिम् ।
पर्यपृच्छन्नुपासीना: श्रेयो न: प्रोच्यतामिति ॥७॥

एक बार प्रजापति के समीप देवता, ऋषि, नाग, और असुर गये और बोले हे ! महाराज हमें कल्याणकारी उपदेश दीजिये ॥७

तेषां प्रोवाच भगवान् श्रेय: समनुपृच्छताम् ।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ते श्रुत्वा प्राद्रवन्दिश: ॥८॥

प्रजापति ने केवल, ॐ शब्द का उच्चारण किया, इस उपदेश को ग्रहण करके वे अपने यथा स्थान को चले गये ॥८॥

तेषां प्रद्रवमाणानामुपदेशार्थमात्मन: ।
सर्पाणां दंशने भाव: प्रवृत्त: पूर्वमेव तु ॥९॥

उस ॐ नामक उपदेश के भावों पर विचार करते हुये सांपों ने काटना आरम्भ कर दिया अर्थात ॐ शब्द के उच्चारण में पहले मुख खोलकर फिर बन्द किया जाता है और यह क्रिया काटने में भी होती है इस लिये उन्होंने उस उपदेश का तात्पर्य्य केवल काटना ही समझा ॥९॥

असुराणां प्रवृत्तस्तु दम्भभावः स्वभावजः ।
दानं देवा व्यवसिता दममेव महर्षयः ॥१०॥

राक्षसों ने इसका अर्थ दम्भ समझा अर्थात् उन्होंने केवल होठों की गति पर ध्यान दिया इस लिये उन्होंने इसका तात्पर्य केवल जपादि का अभिनय प्रदर्शन रूप दम्भ समझा। देवताओं ने इसका अर्थ दान समझा। क्योंकि लौकिक संस्कृत भाषा में यदि कोई वस्तु किसी से मांगता है तो उसका उत्तर ॐ यह स्वीकारार्थक बोला जाता है इस लिये देवताओं ने इसका अर्थ दान समझा। ऋषियों ने इसका अर्थ दम अर्थात् इन्द्रिय निग्रह समझा। क्योंकि ॐ शब्द के उच्चारण में पहिले होठों को आगे बढ़ाकर फिर सिकोड़ लिया जाता है ॥ १० ॥

एकं शास्तारमासाद्य शब्देनैकेन संस्कृताः ।
नानाव्यवसिताः सर्वे सर्पदेवर्षिदानवाः ॥११॥

इस प्रकार एक गुरु को प्राप्त होकर और केवल एक शब्द के ही उपदेश से नाग, असुर, देवता और ऋषि अनेक व्यापारों में लग गये ॥ ११ ॥

शृणोत्ययं प्रोच्यमानं गृह्णाति च यथातथम् ।
पृच्छतस्तदतो भूयो गुरुरन्यो न विद्यते ॥१२॥

वे स्वयं अपने गुरु हैं, शिष्य रूप से प्रश्न करके गुरु रूप से उसे सुनते हैं और उस पर विचार करके उत्तर देते हैं ॥ १२ ॥

(यहां पर यह समझना चाहिये कि एक ही उपदेश अधिकारी

भेद से भिन्न भिन्न भावों को उत्पन्न करता है अर्थात् यद्यपि सब जीवात्मा एक ही प्रकार के हैं और उनके साधन भी एक से ही हैं तथापि वे संस्कार वश भिन्न २ प्रवृत्तियों में लग जाते हैं और एक शब्द के ही अपने भावनानुसार भिन्न अर्थ समझ कर भिन्न भिन्न मार्गों के यात्री हो जाते हैं।)

तस्य चानुमते कर्म ततः पश्चात्प्रवर्तते ।
गुरुर्बोद्धा च श्रोता च द्वेष्टा च हृदि निःसृतः॥१३॥

और उस जीवात्मा की इच्छा से ही सब कर्म होते हैं वही अपना गुरु शिष्य श्रोता और द्वेष्टा है और हृदय में निवास करता है॥ १३ ॥

पापेन विचरंल्लोके पापचारी भवत्ययम् ।
शुभेन विचरंल्लोके शुभचारि भवत्युतम् ॥१४॥

संसार में पाप करने के कारण पापी, धर्म करने के कारण धर्मात्मा कहलाता है ॥ १४ ॥

कामचारी तु कामेन य इन्द्रियसुखे रतः ।
ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रतः ॥१५॥

इन्द्रियों के वशीभूत होकर, इन्द्रियों के सुखों में लगकर कामी कहलाता है और इन्द्रियों को जीत कर ब्रह्मचारी कहलाता है ॥१५

अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः ।
ब्रह्मभूतश्चरंल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम् ॥१६॥

सब काम्य कर्मों का त्याग करके ब्रह्म में ध्यान लगाकर नियम पूर्वक रहता हुआ, ब्रह्मस्थ कहलाता है ॥ १६ ॥

ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्मसंभवः ।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः ॥१७॥

ब्रह्म ही उसकी समिधा है, ब्रह्म ही उसकी अग्नि है, ब्रह्म ही उसका जल है, ब्रह्म ही उसका गुरु है, और इस प्रकार वो ब्रह्म में लीन हो जाता है ॥ १७ ॥

एतदेवेदृशं सूक्ष्मं ब्रह्मचर्यं विदुर्बुधाः ।
विदित्वा चान्वपद्यन्त क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिताः ॥१८॥

ब्रह्मचर्य के इस सूक्ष्म स्वरूप को विद्वानों ने जाना है और ज्ञानवान पुरुष उन्हीं के उपदेश के अनुसार इस अवस्था को प्राप्त करते हैं ॥ १८ ॥

इन श्लोको में ब्रह्म शब्द दो अर्थों में प्रवृत्त हुआ है अर्थात् ब्रह्म नाम इन्द्रियों का भी है और ब्रह्म नाम परमात्मा का भी है केवल इन्द्रिय निग्रह कर लेने पर ही पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं कहला सकता, पूर्ण ब्रह्मचारी वह है जो इन्द्रिय निग्रह पूर्वक अपने आप को परब्रह्म की उपासना में लगावे । यही इन श्लोकों का तात्पर्य है,

श्री ब्राह्मण गीता का एकादश अध्याय समाप्त

द्वादश अध्याय

ब्राह्मण उवाच—

संकल्पदंशमशकं शोकहर्षहिमातपम् ।
मोहान्धकारतिमिरं लोभव्याधिसरीसृपम् ॥१॥
विषयैकात्ययाध्वानं कामक्रोधविरोधकम् ।
तदतीत्य महादुर्गं प्रविष्टोऽस्मि महद्वनम् ॥२॥

ब्राह्मण बोला, हे सुभगे ! संकल्प रूपी डांस और मच्छरों से युक्त, शोक और हर्ष रूपी सर्दी और गर्मी से युक्त, मोह तथा अन्धकार रूपी अन्धेरे से युक्त, लोभ और व्याधि रूपी सर्पों से युक्त, काम और क्रोध रूपी विघ्नों से युक्त, तथा प्राणिओं के द्वारा अकेले ही पार करने योग्य मार्ग को पार करके मैं अब बड़े भारी वन में प्रविष्ट हुआ हूं ॥ १—२ ॥

ब्राह्मण्युवाच—

क्व तद्वनं महाप्राज्ञ के वृक्षाः सरितश्च काः ।
गिरयः पर्वताश्चैव कियत्यध्वनि तद्वनम् ॥३॥

ब्राह्मणी बोली हे विद्वन् ! वह वन कहां है । कौन उसके वृक्ष हैं ! कौन उसकी नदियें है ! गिरि पर्वत उसके क्या हैं ! और वह वन कितनी दूर है ॥ ३ ॥

ब्राह्मण उवाच—

नैतदस्ति पृथग्भावः किंचिदन्यत्ततः सुखम् ।
नैतदस्त्यपृथग्भावः किंचिद् :खतरं ततः ॥४॥

ब्राह्मण बोला--प्रिये ! उसमें कोई वस्तु पृथक् नहीं है, न उससे कोई अधिक सुख है । उसके समीप भी कोई नहीं है, और उससे अधिक दुख भी कहीं नहीं है ॥ ४ ॥

तस्माद्ध्रस्वतरं नास्ति न ततोस्ति महत्तरम् ।
नास्ति तस्मात्सूक्ष्मतरं नास्त्यन्यत्तत्समं सुखम्॥५॥

न उससे कोई छोटा है न उससे कोई बड़ा है न उससे अधिक कोई सूक्ष्म है । न उसके बराबर कोई सुख है ॥५॥

न तत्राविश्य शोचन्ति न प्रहृष्यन्ति च द्विजाः ।
न च विभ्यति केषांचित्तेभ्यो विभ्यति केचन ॥६॥

विद्वान् लोग उसमें प्रविष्ट होकर शोक और हर्ष से मुक्त हो जाते हैं । न वे किसी से डरते हैं न उनसे कोई डरता है ॥६॥

तस्मिन्वने सप्त महाद्रुमाश्च फलानि सप्ताऽतिथयश्च सप्त । सप्ताश्रमाः सप्त समाधयश्च दीक्षाश्च सप्तैतदरण्यरूपम् ॥७॥

उस वन में सात बड़े वृक्ष हैं, सात ही उनके फल हैं, सात अतिथि हैं, सात आश्रम हैं, सात समाधि हैं, सात दीक्षायें हैं यही उस महावन का स्वरूप है । अर्थात् महत्, अहंकार और

पांच तन्मात्राएं ही वृक्ष हैं। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, संशय और निश्चय ये उन फलों के वृक्ष हैं। इन्द्रियों के अधिष्ठाता सात इन फलों के खाने वाले अतिथि हैं। पांचों ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि इन अतिथियों के रहने के आश्रम हैं राग आदि सात समाधियें हैं परिग्रह आदि सात दीक्षा हैं ॥७॥

पञ्च वर्णानि दिव्यानि पुष्पाणि च फलानि च।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥८॥

पांच रंग वाले सुन्दर फूल और फलों को उत्पन्न करने वाले वृक्ष उस वन को घेरे हुये हैं। अर्थात मन रूपी वृक्ष से अनुभव रूपी पांच फूल, और उन फूलों से प्रीति रूप पांच फल उत्पन्न होते हैं ॥८॥

सुवर्णानि द्विवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥९॥

सुन्दर तथा दो वर्ण वाले पुष्पों और फलों को उत्पन्न करने वाले वृक्ष उस वन को घेरे रहते हैं अर्थात् पांचों इन्द्रियें अपने २ भिन्न स्वभाव वाले पुष्पों को उत्पन्न करती हैं और तज्जन्य सुख और दुख रूपी फलों को उत्पन्न करती है ॥९॥

सुरभीणि द्विवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥१०॥

सुगन्धित तथा दो वर्ण वाले फूलों और फलों को उत्पन्न करने वाले वृक्ष उस वन को घेरे रहते हैं। अर्थात् यज्ञादि वृक्ष स्वर्गादि रूप बहुत से फलों और फूलों को उत्पन्न करते हैं ॥१०॥

सुरभीण्येकवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥११

सुगन्धित तथा एक वर्ण वाले फलों और फूलों को उत्पन्न करने वाले वृक्ष उस वन को घेरे रहते हैं अर्थात् ध्यानादि वृक्ष सुख रूपी बहुत से फूलों और फलों को उत्पन्न करते हैं ॥११॥

बहून्यव्यक्तवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
विसृजन्तौ महावृक्षौ तद्वनं व्याप्य तिष्ठतः ॥१२॥

बहुत से अव्यक्त रूपवाले, फूलों और फलों को उत्पन्न करने वाले दो महा वृक्ष उस वन को घेरे रहते हैं अर्थात् मन और बुद्धि रूपी वृक्ष अतीत, अनागत और वर्तमान रूप अव्यक्त बहुत से फूलों और फलों को उत्पन्न करते हैं ॥१२॥

एको वन्हिः सुमना ब्राह्मणोऽत्र पञ्चेन्द्रियाणि समिधश्चात्र सन्ति । तेभ्यो मोक्षाः सप्त फलन्ति दीक्षा गुणाः फलान्यतिथयः फलाशाः ॥१३॥

एक आत्मा, मन और बुद्धि रूपी स्रुवाओं से पाँचों इन्द्रियों को समिधा बनाकर यज्ञ करता है तब उन सबके लीन हो जाने पर मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति होती है यही दीक्षा है और अतीथि अर्थात् दिव्य गुण युक्त पुरुष उस फल की आशा करते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि केवल वही पुरुष मोक्ष रूपी फल को प्राप्त करते हैं जिनके कर्म स्वार्थ न होकर परार्थ होते हैं । उपनिषद् में भी कहा है कि जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां मन के साथ रहती हैं और

बुद्धि अपने व्यापार को छोड़ देती है उस अवस्था का ही नाम परमगति है यह अवस्था इस यज्ञ से ही प्राप्त होती है ॥१३॥

आतिथ्यं प्रतिगृह्णन्ति तत्र तत्र महर्षयः ।
अर्चितेषु प्रलीनेषु तेष्वन्यद्रोचते वनम् ॥१४॥

इन्द्रियों के अधिष्ठता देव जब उस आतिथ्य अर्थात् उस फल को स्वीकार करके लीन हो जाते हैं उस समय वह अवस्था अत्यन्त रुचिकर होती है ॥१४॥

प्रज्ञावृक्षं मोक्षफलं शान्तिच्छायासमन्वितम् ।
ज्ञानाश्रमं तृप्तितोयमन्तःक्षेत्रज्ञ भास्करम् ॥१५॥
येऽधिगच्छन्ति तं सन्तस्तेषां नास्ति भयं पुनः ।
ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक्च तस्य नान्तोऽधिगम्यते ॥१६॥

जो मुमुक्षु मोक्षरूपी फल, शान्तिरूपी छाया, ज्ञान रूपी आश्रम, तृप्ति रूपी जल, और अन्तःक्षेत्रज्ञ रूपी सूर्य से युक्त, प्रज्ञा रूपी वृक्ष पर चढ़ जाते हैं उन्हें फिर किसी वस्तु का डर नहीं रहता। वह प्रज्ञारूपी वृक्ष दिशाओं से सीमित नहीं है॥१५-१६॥

सप्त स्त्रियस्तत्र वसन्ति सद्यस्त्ववाङ्मुखा भानुमत्यो जनित्र्यः । ऊर्ध्वं रसनाददते प्रजाभ्यः सर्वान् यथा सत्यमनित्यता च ॥१७॥

जब जीव उस प्रज्ञा वृक्ष पर चढ़ जाता है तब ज्ञानयुक्त तथा शीघ्र फल देने वाली और ज्योतिमय सात स्त्रियें नीचे मुख करके प्रजाओं के लिए ऊपरको ओर रसों को पहुंचाती है। अर्थात् जिस

समय एक जीव जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त होता है उस समय घ्राण आदि सात वृतियें जो केवल संकल्प रूप से ही रहती हैं अन्तर्मुख वृति होकर विषयों का ग्रहण करती है। इस विषय को दृष्टान्त से बतलाया है कि जीवन्मुक्त और मूर्ख पुरुषों में इतना ही भेद है जितना नित्य और अनित्य वस्तु में भेद है ॥१७॥

तत्रैव प्रतितिष्ठन्ति पुनस्तत्रोपयन्ति च ।
सप्त सप्तर्षयः सिद्धा वसिष्ठप्रमुखैः सह ॥१८॥

उस प्रज्ञा वृक्ष पर ही मन और बुद्धि सहित पांच इन्द्रियें रूपी सिद्ध सप्तर्षि वसिष्ठादि की तरह से रहते हैं। और वहीं पर लीन हो जाते हैं ॥१८॥

यशो वर्चो भगश्चैव विजयः सिद्धतेजसः ।
एतमेवानुवर्तन्ते सप्त ज्योतींषि भास्करम् ॥१९॥

उस अवस्था में ही यश, दीप्ती, सौभाग्य आदि सात सिद्धियें इस जीवात्मा को प्राप्त होती हैं ॥१९॥

गिरयः पर्वताश्चैव सन्ति तत्र समासतः ।
नद्यश्च सरितो वारि वहन्त्यो ब्रह्मसंभवम् ॥२०॥

वहां पर बहुत से गिरि और पर्वत भी हैं। और नदियें ब्रह्म से उत्पन्न होने वाले जल को बहाती हैं ॥२०॥

नदीनां संगमश्चैव वैताने समुपह्वरे ।
स्वात्मतृप्ता यतो यान्ति साक्षादेव पितामहम् ॥२१॥

हृदयरूपी आकाश में बहुतसी ऐसी नदियों का संगम होता है। तब आत्मा तृप्त होकर साक्षात् परब्रह्म को प्राप्त करता है ॥२१॥

कृशाशाः सुव्रताशश्च तपसा दग्धकिल्बिषाः।
आत्मन्यात्मानमाविश्य ब्रह्माणं समुपासते ॥२२॥

विषय वासनाओं को नष्ट कर और तप से पापों को जलाकर अपने आत्मा में ही अपनी वृत्तियों को लगा कर जीवात्मा परब्रह्म की उपासना करता है ॥२२॥

शममप्यत्र शंसन्ति विद्यारण्यविदो जनाः।
तदरण्यमभिप्रेत्य यथाधीरमजायत ॥२३॥

इस वन की विद्या को जानने वाले पुरुष शम की भी प्रशंसा करते हैं और धीर पद को प्राप्त करते हैं ॥२३॥

एतदेवेदृशं पुण्यमरण्यं ब्राह्मणा विदुः।
विदित्वा चानुतिष्ठन्ति क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिना ॥२४॥

विद्वान् ब्राह्मण ऐसे ही सुन्दर वन को पुण्य समझते हैं। और ब्रह्मवेत्ता के उपदेश से उसे जानकर प्राप्त करते हैं ॥२४॥

श्री ब्राह्मण गीता का द्वादश अध्याय समाप्त

त्रयोदश अध्याय

ब्राह्मण उवाच—

गन्धान्न जिघ्रामि रसान्न वेद्मि रूपं न पश्यामि न च स्पृशामि। न चापि शब्दान्विविधान् शृणोमि न चापि संकल्पमुपैमि कंचित् ॥१॥

ब्राह्मण बोला! मैं गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, तथा शब्द आदि विषयों का ग्रहण नहीं करता हूँ और न किसी प्रकार की कामना करता हूँ ॥१॥

अर्थानिष्टान्कामयते स्वभावः सर्वान्द्वेष्यान्प्रद्विषते स्वभावः। कामद्वेषानुद्भवतः स्वभावात् प्राणापानौ जन्तुदेहान्निवेश्य ॥२॥

जिस प्रकार प्राण और अपान प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट होकर बिना इच्छा और द्वेष के भी अपने व्यवहार को करते हैं इसी प्रकार मेरी इन्द्रियें भी स्वभाव से ही विषयों का ग्रहण तथा परित्याग करती है॥२॥

तेभ्यश्चान्यांस्तेषु नित्यांश्च भावान् भूतात्मानं लक्षयेरन् शरीरे। तस्मिंस्तिष्ठन्नास्मि सक्तः कथंचित्कामक्रोधाभ्यां जरया मृत्युना च ॥३॥

योगी लोग बाह्य घ्राण, घ्रेय आदि विषयों से अतिरिक्त वासना रूप घ्राण घ्रेय आदि विषयों में नित्य अनुगत जो विषय

है इनमें भी पृथक् जीवात्मा को शरीर में समझते हैं। और क्योंकि मैं भी उसी अवस्था में हूँ इसलिए काम,क्रोध, बुढापा, और मृत्यु मुझे कष्ट नहीं पहुंचा सकते ॥३॥

अकामयानस्य च सर्वकामा न पिद्विषाणस्य च सर्वदोषान् । न मे स्वभावेषु भवन्ति लेपास्तोयस्य-बिन्दोरिव पुष्करेषु ॥४॥

जिस प्रकार कमलपत्र पर जल का कोई प्रभाव नहीं होता, इसी प्रकार मुझपर भी इच्छा द्वेषादि का कोई प्रभाव नहीं होता क्योंकि मैं न किसी वस्तु की कामना करता हूँ और न किसी से द्वेष करता हूँ ॥४॥

नित्यस्य चैतस्य भवन्ति नित्या निरीक्ष्यमाणस्य बहुस्वभावः । न सज्जते कर्मसु भोगजालं दिवीव सूर्यस्य मयूखजालम् ॥५॥

जिस प्रकार सूर्य की किरणें आकाश में रहती हैं पर आकाश में लिप्त नहीं होतीं इसी प्रकार नित्य जीवात्मा इन अनित्य भावों में रहता हुआ भी लिप्त नहीं होता ।५॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अध्वर्युयतिसंवादं तं निबोध यशस्विनि ॥६॥

हे प्रिये ! इस विषय का एक याज्ञिक और सन्यासी के सम्वाद से प्राचीन उपाख्यान है उसको सुनो ॥६॥

प्रोक्ष्यमाणं पशुं दृष्ट्वा यज्ञकर्मण्यथाऽब्रवीत् ।
यतिरध्वर्युमासीनो हिंसेयमिति कुत्सयन् ॥७॥

एक बार एक सन्यासी ने किसी याज्ञिक ब्राह्मण को यज्ञ में पशुप्रोक्षण करते हुये देखकर उससे कहा कि हिंसा करना आपको उचित नहीं ॥७॥

तमध्वर्युः प्रत्युवाच नायं छागो विनश्यति ।
श्रेयसा योक्ष्यते जन्तुर्यदि श्रुतिरियं तथा ॥८॥

याज्ञिक बोला—मैं इस बकरे का विनाश नहीं कर रहा हूँ किंतु यज्ञ में हनन करने से इसका कल्याण होगा ऐसा सुना जाता है॥८

यो ह्यस्य पार्थिवो भागः पृथिवीं स गमिष्यति ।
यदस्य वारिजं किंचिदपस्तत्संप्रवेक्ष्यति ॥९॥
सूर्यं चक्षुर्दिशः श्रोत्रं प्राणोऽस्य दिवमेव च ।
आगमे वर्तमानस्य न मे दोषोऽस्ति कश्चन ॥१०॥

जो इसका पार्थिव भाग है वह पृथ्वी में मिल जायेगा। जो जलीय अंश है वह जलमें प्रविष्ट हो जायगा। चाक्षुष भाग सूर्य में और श्रोत्रीय भाग आकाश में और प्राण दिशाओं में चले जायेंगे। इसलिए मुझे इस शास्त्रीय कर्म के करने में कोई दोष नहीं है॥९-१०॥

यतिरुवाच—

प्राणैर्वियोगे छागस्य यदि श्रेयः प्रपश्यसि ।
छागार्थे वर्तते यज्ञो भवतः किं प्रयोजनम् ॥११॥

सन्यासी ने कहा ! यदि वकरे के प्राण वियुक्त हो जाने से वकरे का कल्याण है तो यह यज्ञ केवल वकरे के ही लिये है आप का कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिए ॥११॥

अत्र त्वां मन्यतां भ्राता पिता माता सखेति च ।
मन्त्रयस्वैनमुन्नीय परवन्तं विशेषतः ॥१२॥

इस यज्ञ में वकरा आपको भाई, पिता, माता और सखा जाने और आप भी इस पराधीन वकरे को ऊर्ध्व गामी करने का विशेष प्रयत्न कीजिये ॥१२॥

एवमेवानुमन्येरंस्तान् भवान्द्रष्टुमर्हति ।
तेषामनुमतं श्रुत्वा शक्या कर्तुं विचारणा ॥१३॥

जव जन्तु आप को इस भावना से देखेंगे तव आप उनका कल्याण करने में समर्थ होंगे और उनकी बात पर विचार करेंगे॥१३॥

प्राणा अप्यस्य छागस्य प्रापितास्ते स्वयोनिषु ।
शरीरं केवलं शिष्टं निश्चेष्टमिति मे मतिः ॥१४॥

यदि आप मन्त्र के द्वारा इस पशु के प्राण आदि सब तत्त्वों को यथा स्थान पहुंचादेंगे तो केवल जड़ शरीर शेष रह जायेगा॥१४॥

इन्धनस्य तु तुल्येन शरीरेण विचेतसा ।
हिंसा निर्वेष्टुकामानामिन्धनं पशुसंज्ञितम् ॥१५॥

प्राण रहित शरीर इन्धन के समान है औ जो लोग चेतना रहित शरीर के द्वारा यज्ञ करने के अभिलाषी होते हैं पशु ही उन के इन्धन हुआ करते हैं ॥१५॥

अहिंसा सर्वधर्माणामिति वृद्धानुशासनम् ।
यदहिंस्रं भवेत्कर्म तत्कार्यमिति विद्महे ॥१६॥

किंतु प्राचीन आचार्यों की यह आज्ञा है कि अहिंसा ही सब धर्मों में श्रेष्ठ है और जिस कार्य में हिंसा न हो वही कर्म करना चाहिए ॥१६॥

अहिंसेति प्रतिज्ञेयं यदि वक्ष्याम्यतः परम् ।
शक्यं बहुविधं कर्तुं भवता कार्यदूषणम् ॥१७॥

यदि मैं यह प्रतिज्ञा करलूं कि मन वचन और कर्म से कभी हिंसा न करूँगा, तब आप मेरे कार्यों में बहुत से दोष देंगे ॥१७॥

अहिंसा सर्वभूतानां नित्यमस्मासु रोचते ।
प्रत्यक्षतः साधयामो न परोक्षमुपास्महे ॥१८॥

मेरा विचार तो यह है कि सब प्राणियों के साथ हिंसा न करना ही उत्तम है किंतु मैं केवल प्रत्यक्ष हिंसा को ही दूषित बतला रहा हूँ, परोक्ष को नहीं ॥१८॥

अध्वर्युरुवाच—

भूमेर्गन्धगुणान् भुङ्क्षे पिबस्यापोमयान् रसान् ।
ज्योतिषां पश्यसे रूपं स्पृशस्यनिलजान्गुणान् ॥१९॥
शृणोष्याकाशजान् शब्दान्मनसा मन्यसे मतिम् ।
सर्वाण्येतानि भूतानि प्राणा इति च मन्यसे ॥२०॥

याज्ञिक बोला ! तुम भूमि से गन्ध, जल से रस, अग्नि से

रूप, वायु से स्पर्श, आकाश से शब्द, मन से विचार, ग्रहण करते हो और यह भी विचार करते हो कि इन सब पदार्थों में प्राणी रहते हैं ॥ १९—२० ॥

प्राणादाने निवृत्तोऽसि हिंसाया वर्तते भवान् ।
नास्ति चेष्टा विना हिंसां किं वा त्वं मन्यसे द्विज॥२१

और आपने अहिंसा का व्रत धारण कर रक्खा है क्या ! इन विषयों के भोगने में हिंसा नहीं होती। वस्तुतः कोई कर्म हिंसा विना हो ही नहीं सकता कहिये अब आप क्या कह सकते हैं ॥२१

यतिरुवाच—

अक्षरं च क्षरं चैव द्वैधो भावोऽयमात्मनः ।
अक्षरं तत्र सद्भावः स्वभावः क्षर उच्यते ॥२२॥

सन्यासी बोला ! आत्म क्षर और अक्षर भेद से दो प्रकार का है। जिस समय जीवात्मा इन्द्रियों के वशी भूत होता है उस समय उसे क्षर और जब वह इन्द्रियों को अपने वशी भूत कर लेता है तब उसे अक्षर कहते है ॥ २२ ॥

प्राणो जिह्वा मनः सत्त्वं सद्भावो रजसा सह ।
भावैरेतैर्विमुक्तस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः ॥२३॥
समस्य सर्वभूतेषु निर्ममस्य जितात्मनः ।
समन्तात्परिमुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥२४॥

प्राण, जिह्वा, मन, और सत्व, यह सद्भाव कहलाते हैं और इन भावों से विमुक्त होने पर तथा द्वन्दों से रहित होने पर और

आशाओं के छोड़ देने पर जीवात्मा सब प्राणियों में समदर्शी हो जाता है और अहंकार को नष्ट करके अपने आपको जीत लेता है ऐसी अवस्था में वह हिंसा से नही डरता ॥ २३-२४ ॥

अध्वर्युरुवाच—

सद्भिरेवेह संवासः कार्यो मतिमतां वर ।
भवतो हि मतं श्रुत्वा प्रतिभाति मतिर्मम ॥२५॥

याज्ञिक ने कहा ! हे श्रेष्ठ आपकी बात सुनकर मुझे यह निश्चय हो गया है कि सज्जनों के साथ ही रहना चाहिये ॥ २५ ॥

भगवन् भगवद्बुद्ध्या प्रतिपन्नो ब्रवीम्यहम् ।
व्रतं मन्त्रकृतं कर्तुर्नापराधोऽस्ति मे द्विज ॥२६॥

हे महाराज ! इस समय आपके उपदेश से मैं ज्ञान वान् हो गया हूँ । और मैं यह समझ गया हूँ कि अहिंसामय विहित यज्ञ के करने से मैं अपराधी नहा हूँगा ॥ २६ ॥

ब्राह्मण उवाच—

उपपत्त्या यतिस्तूष्णीं वर्तमानस्ततः परम् ।
अध्वर्युरपि निर्मोहः प्रचचार महामखे ॥२७॥

ब्राह्मण बोला ! याज्ञिक की इस युक्ति को सुनकर सन्यासी चुप हो गया । और याज्ञिक मोह हीन होकर अहिंसामय यज्ञ करने लगा२७

एवमेतादृशं मोक्षं सुसूक्ष्मं ब्राह्मणा विदुः ।
विदित्वा चानुतिष्ठन्ति क्षेत्रज्ञेनार्थदर्शिना ॥२८॥

ज्ञानी पुरुप इसे ही मोक्ष का सूक्ष्म मार्ग बताते हैं और ज्ञानी पुरुषों के द्वारा इसको जानकर इसका पालन करते हैं ॥२८॥

श्री ब्राह्मण गीता का त्रयोदश अध्याय समाप्त

चतुर्दश अध्याय

ब्राह्मण उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
कार्तवीर्यस्य संवादं समुद्रस्य च भाविनी ॥१॥

ब्राह्मण बोला ! इस विषय में भी एक प्राचीन उपाख्यान है जिसमें कार्तवीर्य और समुद्र का सम्वाद है ॥ १ ॥

कार्त्तवीर्यार्जुनो नाम राजा बाहुसहस्रवान् ।
येन सागरपर्यन्ता धनुषा निर्जिता मही ॥२॥

कार्तवीर्य अर्जुन नामक एक बड़ा बली राजा था जिसने अपने बल से समुद्र पर्यन्त पृथ्वी को जीत लिया था ॥ ॥

स कदाचित्समुद्रान्ते विचरन्बलदर्पितः ।
अवाकिरन् शरशतैः समुद्रमिति नः श्रुतम् ॥३॥

हमने यह सुना है कि एक बार समुद्र के किनारे घूमते हुये उसने अपने बल के अभिमान से समुद्र को अपने बाणों से आच्छादित कर दिया ॥ ३ ॥

तं समुद्रो नमस्कृत्य कृताञ्जलिरुवाच ह ।
मा मुञ्च वीर नाराचान् ब्रूहि किं करवाणि ते ॥४॥

समुद्र ने राजा से हाथ जोड़कर तथा नमस्कार करके कहा ! हे वीर तुम बाणों को मत छोड़ो कहो मैं आपकी क्या सेवा करूं ॥४

मदाश्रयाणि भूतानि त्वद्विसृष्टैर्महेषुभिः ।
वध्यन्ते राजशार्दूल तेभ्यो देह्यभयं विभो ॥५॥

हे महाराज आपके वाणों से मेरे आश्रय में रहने वाले प्राणी दुख पा रहे हैं । कृपाकर उन्हें अभय दान दीजिये ॥ ५ ॥

अर्जुन उवाच--

मत्समो यदि संग्रामे शरासनधरः क्वचित् ।
विद्यते तं समाचक्ष्व यः समासीत मां मृधे ॥६॥

कार्तवीर्य अर्जुन ने कहा ! यदि कोई धनुर्धारी युद्ध में मेरा सामना कर सके तो बतलाओ ॥ ६ ॥

समुद्र उवाच—

महर्षिर्जमदग्निस्ते यदि राजन्परिश्रुतः ।
तस्य पुत्रस्तवातिथ्यं यथावत्कर्त्तुमर्हति ॥७॥

समुद्र बोला, हे राजन् ! आपने महर्षि जमदग्नि का नाम सुना होगा उसका पुत्र आपका आतिथ्य अच्छी तरह करने में समर्थ है ७

ततः स राजा प्रययौ क्रोधेन महतावृतः ।
स तमाश्रममागम्य राममेवान्वपद्यत ॥८॥

फिर वह राजा अत्यन्त क्रुद्ध होकर महर्षि जमदग्नि के पुत्र परशुराम के पास गया ॥ ८ ॥

स रामप्रतिकूलानि चकार सह बन्धुभिः ।
आयासं जनयामास रामस्य च महात्मनः ॥९॥

वहां उसने अपने सम्बन्धियों के सहित परशुराम जी के विरुद्ध बहुत से ऐसे कार्य किये जिन से उन्हें बहुत कष्ट पहुँचा ॥९

ततस्तेजः प्रजज्वाल रामस्यामिततेजसः ।
प्रदहन् रिपुसैन्यानि तदा कमललोचने ॥१०॥

हे सुन्दरी ! उस समय अत्यन्त तेजस्वी परशुराम जी का पराक्रम प्रकट हुआ और वह कार्तवीर्य अर्जुन की सेना को दग्ध करने लगा ॥ १० ॥

ततः परशुमादाय स तं बाहुसहस्रिणम् ।
चिच्छेद सहसा रामो बहुशाखमिव द्रुमम् ॥११॥

परशुराम जी ने अपने फरसे से सहस्रबाहु पर इस तरह प्रहार करना आरम्भ किया जिस तरह वृक्ष को काटा जाता है॥११

तं हतं पतितं दृष्ट्वा समेताः सर्वबान्धवाः ।
असीनादाय शक्तींश्च भार्गवं पर्यधावयन् ॥१२॥

कार्तवीर्य अर्जुन को मरा हुआ देख कर उसके सब साथी तलवार और शक्तियों को लेकर परशुराम जी के ओर दौड़े ॥१२॥

रामोऽपि धनुरादाय रथमारुह्य सत्वरः ।
विसृजन् शरवर्षाणि व्यधमत्पार्थिवं बलम् ॥१३॥

परशुराम भी रथ पर चढ़ कर धनुष को लिये हुए अस्त्रों की वर्षा करने लगे । तथा अपना बल प्रदर्शित करने लगे ॥ १३ ॥

ततस्तु क्षत्रियाः केचिज्जामदग्न्यभयार्दिताः ।
विविशुर्गिरिदुर्गाणि मृगाः सिंहार्दिता इव ॥१४॥

उस समय बहुत से क्षत्रिय परशुराम जी के बल से डर कर गुफा गिरि कन्दराओं में छिप गये जैसे सिंह के भय से मृग छिप जाते है ॥ १४ ॥

तेषां स्वविहितं कर्म तद्भयान्नानुतिष्ठताम् ।
प्रजा वृषलतां प्राप्ता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥१५॥

तब क्षत्रियों ने परशुराम जी के भय से अपने कर्तव्य का परित्याग कर दिया और ब्राह्मणों के अभाव से सम्पूर्ण प्रजा शूद्रत्व को प्राप्त हो गई ॥ १५ ॥

एवं ते द्रविडाभीराः पुण्ड्राश्च शबरैः सह ।
वृषलत्वं परिगता व्युत्थानात् क्षत्रधर्मिणः ॥१६॥

इस प्रकार क्षात्र धर्म नष्ट हो जाने से द्राविड़, आभीर, पुन्ड्र, और शबर भी शूद्रत्व को प्राप्त हो गये ॥ १६ ॥

ततश्च हतवीरासु क्षत्रियासु पुनः पुनः ।
द्विजैरुत्पादितं क्षत्रं जामदग्न्यो न्यकृन्तत ॥१७॥

क्षत्रिय विधवाओं से ब्राह्मणों के द्वारा जो क्षत्रिय संतान उत्पन्न हुई उसे भी परशुराम जी ने मार दिया ॥ १७ ॥

एकविंशति मेधान्ते रामं वागशरीरिणी ।
दिव्या प्रोवाच मधुरा सर्वलोकपरिश्रुता ॥१८॥

इस प्रकार परशुराम जब इक्कीस बार क्षत्रियों का विध्वंस कर चुके तब सम्पूर्ण संसार में प्रसिद्ध दिव्य वाणी ने उनसे कहा ॥ १८ ॥

राम राम निवर्त्तस्व कं गुणं तात पश्यसि ।
क्षत्रबन्धूनिमान्प्राणैर्विप्रयोज्य पुनः पुनः ॥१९॥

हे परशुराम ! ठहरो, इस तरह क्षत्रियों के बारबार विध्वंस करने से क्या लाभ होगा ॥ १९ ॥

तथैव तं महात्मानमृचीकप्रमुखास्तदा ।
पितामहा महाभाग निवर्तस्वेत्यथाब्रवन् ॥२०॥

ऋचीक प्रभृति महापुरुषों ने भी उन्हें इस कार्य के करने से रोका ॥ २० ॥

पितुर्वधममृष्यंस्तु रामः प्रोवाच तानृषीन् ।
नार्हन्तीह भवन्तो मां निवारयितुमित्युत ॥२१॥

अपने पिता की मृत्यु को न सह सकने के कारण परशुराम जी ने उन ऋषियों से कहा, कि आपका निषेध करना ठीक नहीं है॥२१

पितर ऊचुः—

नार्हसे क्षत्रबन्धूंस्त्वं निहन्तुं जयतां वर ।
नेह युक्तं त्वया हन्तुं ब्राह्मणेन सता नृपान्॥२२॥

ऋषि बोले ! आप ब्राह्मण हैं आपको क्षत्रियों का वध करना उचित नहीं है ॥ २२ ॥

श्री ब्राह्मण गीता का चतुर्दश अध्याय समाप्त ।

पंचदश अध्याय

पितर ऊचुः—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
श्रुत्वा च तत्तथा कार्यं भवता द्विजसत्तम ॥१॥

पितरों ने कहा ! हे ब्राह्मण श्रेष्ठ परशुराम ! इस विषय में एक प्राचीन उपाख्यान है उसे सुनकर आपको कार्य्य करना चाहिये ॥१॥

अलर्को नाम राजर्षिरभवत्सुमहातपाः ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च महात्मा सुदृढव्रतः ॥२॥

एक महातपस्वी, धर्मात्मा, सत्यवादी, महात्मा, व्रती, राजर्षि अलर्क थे ॥२॥

स सागरान्तां धनुषा विनिर्जित्य महीमिमाम् ।
कृत्वा सुदुष्करं कर्म मनः सूक्ष्मे समादधे ॥३॥

उसने धनुष से सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत कर ब्रह्म की प्राप्ति में अपने मन को लगाया ॥३॥

स्थितस्य वृक्षमूलेषु तस्य चिन्ता बभूव ह ।
उत्सृज्य सुमहत्कर्म सूक्ष्मं प्रति महामते ॥४॥

एक समय वह वृक्ष के नीचे खड़ा हुआ यह सोचने लगा कि मैं कर्म का परित्याग कर ब्रह्म को जानने का यत्न करूँगा ॥४॥

अलर्क उवाचः—

मनसो मे बलं जातं मनो जित्वा ध्रुवो जयः ।
अन्यत्र बाणान्धास्यामि शत्रुभिः परिवारितः ॥५॥

अलर्क विचार करने लगा—कि मन बड़ा बलवान है मन के जीतने से ही जीत है इस लिये मैं अब बाह्यइन्द्रिय रूपी शत्रुओं को जीतने के लिये उनपर बाणों का प्रयोग करूँगा ॥५॥

यदिदं चापलात्कर्म सर्वान्मर्त्यांश्चिकीर्षति ।
मनः प्रति सुतीक्ष्णाग्रानहं मोक्ष्यामि सायकान् ॥६॥

मन अत्यन्त चञ्चल है और सब प्राणियों को जीतने की इच्छा करता है इसलिये मैं अब अत्यन्त तीक्ष्ण बाणों को मनपर छोड़ूंगा ॥६॥

मन उवाच—

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥७॥

मनने कहा । हे अलर्क इन बाणों का मुझ पर कुछ प्रभाव न होगा । यह तेरे ही मर्मस्थानों को वेधेंगे । जिससे तू मर जायगा ॥७॥

अन्यान् बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
तच्छ्रुत्वाऽप्यविचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥८॥

इसलिये तुम उन बाणों का प्रयोग करो जिनसे तुम मुझेमार सकोगे । यह सुनकर अलर्क विचारने लगा और बोला ॥८॥

अलर्क उवाच—

आघ्राय सुबहून्गन्धांस्तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्मात् घ्राणं प्रति शरान् प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान्॥९॥

अलर्क बोला। नासिका बहुत से गन्धों को सूंघने पर भी फिर गंध की ओर ही रुचि रखती है इस लिये मैं नासिका पर तीक्ष्ण बाणों का प्रयोग करूंगा ॥९॥

घ्राण उवाच—

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥१०॥

नासिका ने कहा हे अलर्क। यह बाण मेरा कुछ नहीं कर सकते किन्तु तेरे ही मर्म का भेदन करेंगे। जिससे तू मर जायगा ॥१०॥

अन्यान्बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत्॥११॥

इसलिये तुम उन बाणों का प्रयोग करो जिनसे मुझे मार सकोगे। यह सुनकर अलर्क विचार करके बोला ॥ ११ ॥

अलर्क उवाच—

इयं स्वादून् रसान् भुक्त्वा तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्माज्जिह्वां प्रति शरान्प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान्१२

अलर्क बोला—रसना स्वादिष्ट रसों का भोग करके फिर उन्हीं

की इच्छा करती है। इसलिये मैं रसना पर ही तीक्ष्ण वाणों का प्रयोग करूंगा ॥ १२ ॥

जिह्वोवाच—

नेमे वाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥१३॥

रसना ने कहा हे अलर्क ! तुम इन वाणों से मुझे नहीं जीत सकते ये तेरे ही मर्म का भेदन करेंगे जिससे तू मर जायगा ॥१३॥

अन्यान्वाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥१४

इसलिये तुम ऐसे वाणों का प्रयोग करो जिन से मुझे मार सको यह सुन कर अलर्क ने सोचा और कहा ॥ १४ ॥

अलर्क उवाच—

स्पृष्ट्वा त्वग्विविधान् स्पर्शांस्तानेव प्रतिगृध्यति।
तस्मात्त्वचं पाटयिष्ये विविधैः कङ्कपत्रिभिः ॥१५॥

अलर्क बोला त्वचा नाना प्रकार के स्पर्शों का अनुभव करके भी स्पर्श को ही ग्रहण करने की इच्छा करती है इसलिये मैं तीक्ष्ण वाणों से इस त्वचा को ही काट डालूंगा ॥ १५ ॥

त्वगुवाच—

नेमे वाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥१६॥

त्वचा ने कहा हे अलर्क—यह बाण मुझे कुछ भी हानि नहीं पहुंचा सकते, यह तेरे ही मर्म का भेदन करेंगे। जिससे तू मर जायगा ॥ १६ ॥

अन्यान्वाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत्॥१७॥

तू उन बाणों को ग्रहण कर जिनसे मुझे मार सके। यह सुन कर और विचार कर अलर्क ने कहा ॥ १७ ॥

अलर्क उवाच—

श्रुत्वा तु विविधान् शब्दांस्तानेव प्रतिगृध्यति।
तस्माच्छ्रोत्रं प्रति शरान् प्रतिमुंचाम्यहं शितान् ॥१८

अलर्क बोला—कान विविध प्रकार के शब्दों को सुनकर भी शब्द सुनने की ही इच्छा करते हैं इसलिये मैं कानों पर तीक्ष्ण बाण छोड़ूंगा ॥ १८ ॥

श्रोत्रमुवाच—

नेमे वाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति ततो हास्यसि जीवितम् ॥१९॥

कान बोले हे अलर्क! यह बाण हमारी कुछ भी हानि नहीं कर सकते किन्तु तेरे ही मर्म का भेदन करेंगे जिससे तेरा जीवन नष्ट हो जायगा ॥ १९ ॥

अन्यान्याणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥२०

इसलिये तू उन बाणों का प्रयोग कर जिससे तू हमें जीत सके यह सुनकर और विचार कर अलर्क ने कहा ॥ २० ॥

अलर्क उवाच—

दृष्ट्वा रूपाणि बहुशस्तान्येव प्रतिगृध्यति ।
तस्माच्चक्षुर्हनिष्यामि निशितैः सायकैरहम् ॥२१॥

अलर्क ने कहा नेत्र बहुत से रूपों को देख कर भी रूप देखने की इच्छा करता है इसलिये मैं तीक्ष्ण बाणों से नेत्र को ही मारूंगा ॥ २१ ॥

चक्षुरुवाच—

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥२२॥

नेत्र ने कहा हे अलर्क यह बाण मुझे नहीं मार सकते । तेरे ही मर्म का भेदन करेंगे जिससे तू मर जायगा ॥ २२ ॥

अन्यान्बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत्॥२३

इसलिये तू उन बाणों का प्रयोग कर जिन से तू मुझे जीत सके । यह सुन कर और विचार कर अलर्क ने कहा ॥ २३ ॥

अलर्क उवाच—

इयं निष्ठा बहुविधा प्रज्ञया त्वध्यवस्यति ।
तस्माद् बुद्धिं प्रति शरान्प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् २४

अलर्क बोला—बुद्धि अनेक प्रकार के विचारों को उत्पन्न करती है। इस लिये मैं बुद्धि को ही तीक्ष्ण बाणों से मारूंगा ॥२४॥

बुद्धिरुवाच—

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि।
अन्यान्बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ॥२५

बुद्धि ने कहा—हे अलर्क। यह बाण मुझे नहीं मार सकते यह तेरे मर्मों का ही भेदन करेंगे जिससे तू मर जायेगा। इसलिये मुझपर विजय प्राप्त करने के लिये अन्य बाणों का प्रयोग कर॥ २५

ब्राह्मण उवाच—

ततोऽलर्कस्तपो घोरं तत्रैवास्थाय दुष्करम्।
नाध्यगच्छत्परं शक्त्या बाणमेतेषु सप्तसु ॥२६॥

ब्राह्मण बोला—तदन्तर उस वृक्ष के नीचे बैठकर ही अलर्क ने बड़ी तपस्या की। किन्तु पांचो इन्द्रिय मन और बुद्धि पर एक भी बाण का प्रयोग न कर सका ॥२६॥

सुसमाहितचेतास्तु स ततोऽचिन्तयत्प्रभुः।
स विचिन्त्य चिरं कालमलर्को द्विजसत्तम ॥२७॥

हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! तब अलर्क ने अपने चित्त को एकाग्र करने का बहुत प्रयत्न किया और चिरकाल तक इसी अभ्यास में लगा रहा ॥२७॥

नाध्यगच्छत्परं श्रेयो योगान्मतिमतां वरः ।
स एकाग्रं मनः कृत्वा निश्चलो योगमास्थितः ॥२८॥

किन्तु उस राजर्षि को इस प्रकार के राज योग से कुछ भी कल्याण प्राप्त न हुआ तब उसने इस हठयोग को छोड़ कर ध्यान योग से अपने मनका निश्चल करना आरम्भ किया॥२८॥

इन्द्रियाणि जघानाशु बाणेनैकेन वीर्यवान् ।
योगेनात्मानमाविश्य सिद्धिं परमिकां गतः ॥२९॥

परम तपस्वी अलर्क ने एक ही बाण से इन्द्रियों को जीत लिया और फिर योग बल से परम सिद्धि प्राप्त की ॥२९॥

विस्मितश्चापि राजर्षिरिमां गाथां जगाद ह ।
अहो कष्टं यदस्माभिः सर्वं बाह्यमनुष्ठितम् ॥३०॥

राजर्षि अलर्क ने तब अत्यन्त विस्मित होकर इस उपाख्यान को सुनाया और कहा—कि हमने पहले बाह्य आडम्बरों में अपना समय नष्ट किया यह दुख है ॥३०॥

भोगतृष्णासमायुक्तैः पूर्वं राज्यमुपासितम् ।
इति पश्चान्मया ज्ञातं योगान्नास्ति परम् सुखम् ॥३१

मैंने पहले भोग और तृष्णा से युक्त राज्य प्राप्ति का प्रयत्न किया किन्तु मुझे बाद में यह पता चला कि योग से अधिक कोई सुख का साधन नहीं है ॥३१॥

इति त्वमनुजानीहि राम मा क्षत्रियान् जहि ।
तपो घोरमुपातिष्ठ ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥३२॥

हे परशुराम ! इस उपाख्यान पर विचार करते हुये आप क्षत्रियों का वध न करो और तपस्या करो जिससे कल्याण प्राप्त हो ॥३२॥

इत्युक्तः स तपो घोरं जामदग्न्यः पितामहैः ।
आस्थितः सुमहाभागो ययौ सिद्धिं च दुर्गमाम् ॥३३

वृद्धों से यह उपाख्यान सुनकर परशुराम जी ने बड़ी भारी तपस्या की और अत्यन्त कठिन सिद्धि प्राप्त की ॥३३॥

श्री ब्राह्मण गीता का पंचदश अध्याय समाप्त

षोड़श अध्याय

ब्राह्मण उवाच—

त्रयो वै रिपवो लोके नवधा गुणतः स्मृताः ।
प्रहर्षः प्रीतिरानन्दस्त्रयस्ते सात्त्विका गुणाः ॥१॥

ब्राह्मण बोला ! संसार में मनुष्यों के तीन शत्रु है जो अपने गुणों से नौ प्रकार के है जिनमें प्रहर्ष, प्रीति, और आनन्द ये सात्विक गुण है । इष्ट को प्राप्ति के निश्चय होने पर जो सुख होता है उसे प्रहर्ष, इष्ट की प्राप्ति में जो आनन्द होता है उसे प्रीति, और इष्ट वस्तु के भोगने से जो सुख होता है उसे आनन्द कहते हैं ॥१॥

तृष्णा क्रोधोऽभिसंरम्भो राजसास्ते गुणाः स्मृताः ।
श्रमस्तन्द्रा च मोहश्च त्रयस्ते तामसा गुणाः ॥२॥

तृष्णा, क्रोध, और द्वेष का अभिनिवेष ये तीन राजस गुण है। श्रम, तन्द्रा और मोह ये तीन तामस गुण है ॥२॥

एतान्निकृत्य धृतिमान् बाणसङ्घैरतन्द्रितः ।
जेतुं परानुत्सहते प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥३॥

बुद्धिमान पुरुष सावधानता से शमादि बाणों के द्वारा इन शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करता है ॥३॥

अत्र गाथाः कीर्तयन्ति पुराकल्पविदो जनाः ।
अम्बरीषेण या गीता राज्ञा पूर्वं प्रशाम्यता ॥४॥

प्राचीन इतिहास वेत्ता इस विषय में उपाख्यान भी सुनाते हैं जिन्हें पहले प्रशान्त चित्त महाराज अम्बरीष ने कहा था ॥४॥

समुदीर्णेषु दोषेषु बाध्यमानेषु साधुषु ।
जग्राह तरसा राज्यमम्बरीषो महायशाः ॥५॥

राग आदि दोषों के बढ़ने पर और शमादि गुणों के क्षीण होने पर अम्बरीष ने राज्य पदवी को प्राप्त किया ॥५॥

स निगृह्यात्मनो दोषान्साधून्समभिपूज्य च ।
जगाम महतीं सिद्धिं गाथाश्चेमा जगाद ह ॥६॥

और शीघ्र ही उसने शमादि से दोषों को नष्ट करके परम सिद्धि को प्राप्त किया और यह कथा कही ॥६॥

भूयिष्ठं विजिता दोषा निहताः सर्वशत्रवः ।
एको दोषो वरिष्ठश्च वध्यः स न हतो मया ॥७॥

मैंने सम्पूर्ण दोष रूपी शत्रुओं को जीत लिया, किन्तु एक ऐसा प्रबल दोष है जिसे मैं नहीं जीत सका ॥७॥

यत्प्रयुक्तो जन्तुरयं वैतृष्ण्यं नाधिगच्छति ।
तृष्णार्त इह निम्ना न धावमानो न बुध्यते ॥८॥

उस दोष के ही कारण मुझे वैराग्य उत्पन्न नहीं होता । और तृष्णा के कारण मैं नीच कर्मों में प्रवृत हो रहा हूँ और फिर भी मैं उसे नहीं जानता ॥८॥

अकार्यमपि येनेह प्रयुक्तः सवते नरः ।
तं लोभमसिभिस्तीक्ष्णैर्निकृन्तंतं निकृन्तत ॥९॥

जिस कारण मनुष्य बुरे कर्म करता है उस लोभ को तीक्ष्ण खड्गों से काटना चाहिये ॥९॥

लोभाद्धि जायते तृष्णा ततश्चिन्ता प्रवर्तते ।
स लिप्समानो लभते भूयिष्ठं राजसान्गुणान् ।
तदवाप्तौ तु लभते भूयिष्ठं तामसान्गुणान् ॥१०॥

लोभ से तृष्णा, तृष्णा से चिन्ता उत्पन्न होती है । और पदार्थ के प्राप्त होने पर रजोगुण तथा असफलता में तमोगुण बढ़ता है ॥१०॥

स तैर्गुणैः संहतदेहबन्धनः पुनः पुनर्जायति

कर्म चेह ते । जन्मक्षये भिन्नविकीर्णदेहो मृत्युं पुनर्गच्छति जन्मनैव ॥११॥

इन गुणों के प्रभाव से प्राणी बार बार जन्म और मरण के चक्कर में रहता है ॥११॥

तस्मादेतं सम्यगवेक्ष्य लोभं निगृह्य धृत्याऽऽत्मनि राज्यमिच्छेत् । एतद्राज्यं नान्यदस्तीह राज्यमात्मैव राजा विदितो यथावत् ॥१२॥

इस लिये इस बात पर विचार करके धैर्य से शरीर के अन्दर ही लोभ को नष्ट करके राज्य की इच्छा करनी चाहिये । इस प्रकार लोभ को नष्ट करना ही राज्य है और आत्मा ही इस राज्य का राजा है ॥१२॥

इति राज्ञाऽम्बरीषेण गाथा गीता यशस्विना ।
अधिराज्यं पुरस्कृत्य लोभमेकं निकृन्तता ॥१३॥

लोभ का निग्रह करने वाले राजा अम्बरीष ने अधिराज्य (मोक्ष)के विषय में यह उपाख्यान कहा है ॥१३॥

श्री ब्राह्मण गीता का षोड़श अध्याय समाप्त.

सप्तदश अध्याय

ब्राह्मण उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ब्राह्मणस्य च संवादं जनकस्य च भाविनी ॥१॥

ब्राह्मण बोला—इस विषय में ब्राह्मण और जनक का एक प्राचीन उपाख्यान है ॥१॥

ब्राह्मणं जनको राजाऽऽसन्नं कस्मिंश्चिदागसि ।
विषये मे न वस्तव्यमिति शिष्ट्यर्थमब्रवीत् ॥२॥

एक समय एक ब्राह्मण ने कुछ अपराध किया, महाराज जनक ने उसका सुधार करने के लिये उसे देश त्याग का दंड दिया २

इत्युक्तः प्रत्युवाचाथ ब्राह्मणो राजसत्तमम् ।
आचक्ष्व विषयं राजन् यावांस्तव वशे स्थितः ॥३॥

यह सुनकर ब्राह्मण ने राजा से कहा हे राजन् मुझे यह बतलाइये कि आपका कितना राज्य है ॥३॥

सोऽन्यस्य विषये राज्ञो वस्तुमिच्छाम्यहं विभो ।
वचस्ते कर्तुमिच्छामि यथाशास्त्रं महीपते ॥४॥

हे राजन ! मैं शास्त्रानुसार आपकी आज्ञा का पालन करता हुआ किसी दूसरे राज्य में जाकर रहूँगा ॥४॥

इत्युक्तस्तु तदा राजा ब्राह्मणेन यशस्विना ।
मुहुरुष्णं विनिःश्वस्य न किंचित्प्रत्यभाषत ॥५॥

महाराज जनक यह सुनकर गर्म २ सांस लेते रहे, और कुछ न बोले ॥५॥

तमासीनं ध्यायमानं राजानममितौजसम् ।
कश्मलं सहसाऽगच्छद्भानुमन्तमिव ग्रहः ॥६॥

महाराज जनक ध्यान में लीन हो गये और उस समय उन पर ऐसा मोह छा गया जैसा ग्रहण के समय सूर्य्य पर अन्धकार छा जाता है ॥६॥

समाश्वास्य ततो राजा विगते कश्मले तदा ।
ततो मुहुर्तादिव तं ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥७॥

मोह नष्ट होने पर आश्वासित होकर महाराज जनक ने ब्राह्मण से कहा ॥७॥

जनक उवाच—

पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति ।
विषयं नाधिगच्छामि विचिन्वन् पृथिवीमहम् ॥८॥

जनक बोले—हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! अपने पूर्वजों के राज्य पर अधिरूढ़ होकर भी मैं यह नहीं समझता कि सम्पूर्ण पृथ्वी पर मेरा कहां राज्य है ॥८॥

नाध्यगच्छं यदा पृथ्व्यां मिथिला मार्गिता मया ।
नाध्यगच्छं यदा तस्यां स्वप्रजा मार्गिता मया ॥९॥

जब मैंने सारी पृथ्वी पर कहीं भी अपना राज्य न देखा तब

मिथिला नगरी में देखना आरम्भ किया और जब वहां भी न मिला तब अपने बन्धुवों में देखना आरम्भ किया ॥९॥

नाध्यगच्छं यदा तस्यां तदा मे कश्मलोऽभवत् ।
ततो मे कश्मलस्यान्ते मतिः पुनरुपस्थिता ॥१०॥

जब वहाँ भी राज्य नहीं मिला। तब मोह ने मुझे घेर लिया। मोह के नष्ट होने पर मेरे हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ ॥१०॥

तदा न विषयं मन्ये सर्वो वा विषयो मम ।
आत्माऽपि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम ॥११॥

अब मुझे निश्चय है कि मेरा कहीं भी राज्य नहीं, और सब जगह है। यह शरीर भी मेरा नहीं, और सम्पूर्ण पृथ्वी भी मेरी है ॥११॥

यथा मम तथाऽन्येषामिति मन्ये द्विजोत्तम ।
उष्यतां यावदुत्साहो भुज्यतां यावदुष्यते ॥१२॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मण—जो मेरी अवस्था है वही सबकी है अतः जहाँ आपकी इच्छा हो आनन्द पूर्वक निवास करो ॥१२॥

ब्राह्मण उवाच—

पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति ।
ब्रूहि कां मतिमास्थाय ममत्वं वर्जितं त्वया ॥१३॥

ब्राह्मण बोला—हे राजन्! अपने पूर्वजों के राज्य पर शासन करते हुये भी किस विचार से आपने ममत्व को त्याग दिया है ॥१३॥

कां वै बुद्धिं समाश्रित्य सर्वा वै विषयस्तव ।
नावैषि विषयं येन सर्वो वा विषयस्तव ॥१४॥

किस तरह से आपका अधिकार सम्पूर्ण पृथ्वी पर है और क्यों आपको शरीर पर भी अधिकार नहीं । यह मेरी समझ में नहीं आया ॥१४॥

जनक उवाच—

अन्तवन्त्य इहावस्था विदिताः सर्वकर्मसु ।
नाध्यगच्छमहं बुद्ध्या ममेदमिति यद्भवेत् ॥१५॥

जनक ने कहा—संसार की ऊंच और नीच अवस्थायें और कर्म नश्वर हैं इसलिये मैं यह नहीं कह सकता कि यह वस्तु मेरी है ॥ १५ ॥

कस्येदमिति कस्य स्वमिति वेदवचस्तथा ।
नाध्यगच्छमहं बुद्ध्या ममेदमिति यद्भवेत् ॥१६॥

वेद भी यही कहता है कि यह सब पदार्थ परमात्मा के हैं इस लिये मैं समझता हूँ कि कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है ॥ १६ ॥

एतां बुद्धिं समाश्रित्य ममत्वं वर्जितं मया ।
शृणु बुद्धिं च यां ज्ञात्वा सर्वत्र विषयो मम १७॥

इस विचार को धारण करके मैंने अहंकार को छोड़ दिया है, अब तुम यह सुनो कि मैं सब पदार्थों पर कैसे अपना अधिकार समझता हूँ ॥ १७ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि गन्धान घ्राणगतानपि ।
तस्मान्मे निर्जिता भूमिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥१८॥

नासिका में स्थित गन्ध को भी मैं अपनी तृप्ति का कारण नहीं समझता इसलिये सम्पूर्ण पृथ्वी मेरे वश में है और मैंने उसे जीत लिया है ॥ १८ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि रसान्नास्येऽपि वर्ततः ।
आपो मे निर्जितास्तस्माद्वशे तिष्ठन्ति नित्यदा ॥१९॥

मुख में स्थित रसों को भी मैं अपनी तृप्ति का कारण नहीं समझता इसलिये सम्पूर्ण जल पर भी मैंने अधिकार कर लिया है१९

नाहमात्मार्थमिच्छामि रूपं ज्योतिश्च चक्षुषः ।
तस्मान्मे निर्जितं ज्योतिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥२०॥

नेत्र के विषय रूप को भी मैं अपनी तृप्ति का कारण नहीं समझता इसलिये मैंने अग्नि पर भी अपना अधिकार कर लिया है ॥ २० ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि स्पर्शांस्त्वचि गताश्च ये ।
तस्मान्मे निर्जितो वायुर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥२१॥

स्पर्श को भी मैं अपनी तृप्ति का कारण नहीं समझता इसलिये वायु पर भी मैंने अधिकार कर लिया है ॥ २१ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि शब्दान् श्रोत्रगतानपि ।
तस्मान्मे निर्जिताः शब्दा वशे तिष्ठन्ति नित्यदा॥२२

शब्दों को भी मैं अपनी तृप्ति का कारण नहीं समझता। इसलिये आकाश पर भी मैंने अधिकार कर लिया है ॥ २२ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि मनो नित्यं मनोन्तरे ।
मनो मे निर्जितं तस्माद्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥२३॥

मन के विषयों को भी मैं आत्मा की तृप्ति का कारण नहीं समझता। अतः मन पर भी मेरा अधिकार है ॥ २३ ॥

देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च भूतेभ्योऽतिथिभिः सह ।
इत्यर्थं सर्व एवेति समारम्भा भवन्ति वै ॥२४॥

सारांश यह है कि मैं अपनी तृप्ति के लिये कुछ भी कर्म नहीं करता। किन्तु सब कर्म देवता, अतिथि, पितर, तथा भूतों, के लिये करता हूँ अर्थात् मैं सब कर्म केवल कर्तव्य बुद्धि से प्राणी मात्र के हितार्थ ही करता हूँ ॥ २४ ॥

ततः प्रहस्य जनकं ब्राह्मणः पुनरब्रवीत् ।
त्वज्जिज्ञासार्थमद्येह विद्धि मां धर्ममागतम् ॥२५॥

तब ब्राह्मण हंसकर जनक से बोला—मैं धर्म का स्वरूप हूँ और तुम्हारी परीक्षा के लिये ब्राह्मण वेश में आया हूँ ॥ २५ ॥

त्वमस्य ब्रह्मलाभस्य दुर्वारस्यानिवर्तिनः ।
सत्त्वनेमिनिरुद्धस्य चक्रस्यैकः प्रवर्तकः ॥२६॥

मुझे निश्चय होगया है कि इस समय संसार में आप ही सत्य गुण रूप नेमि से युक्त ब्रह्म प्राप्ति रूप चक्र के संचालक हैं ॥२६॥

श्री ब्राह्मण गीता का सप्तदश अध्याय समाप्त

अष्टादश अध्याय

ब्राह्मण उवाच—

नाऽहं तथा भीरु चरामि लोके यथा त्वं मां तर्जयसे स्वबुद्ध्या। विप्रोऽस्मि मुक्तोऽस्मि वनेच-रोऽस्मि गृहस्थधर्मा व्रतवांस्तथाऽस्मि ॥१॥

ब्राह्मण बोला—हे प्रिये तुमने मुझे जो समझकर कटु शब्द कहे थे मै उनका पात्र नहीं हूँ। मैं तो ब्राह्मण हूँ जीवन मुक्त हूँ वन में रहता हूँ, गृहस्थ हूँ और व्रतों का पालन करता हूँ ॥ १ ॥

नाहमस्मि यथा मां त्वं पश्यसे च शुभाशुभे।
मया व्याप्तमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ॥२॥

हे देवि! जो तुम मुझे देखती हो मैं वह नहीं हूँ मेरा ज्ञान सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है ॥ २ ॥

ये केचिज्जन्तवो लोके जङ्गमाः स्थावराश्च ह।
तेषां मामन्तकं विद्धि दारूणामिव पावकम् ॥३॥

जिस प्रकार अग्नि लकड़ी का नाश कर देती है उसी प्रकार मैंने सब सांसारिक पदार्थों के विषय भोगों का नाश कर दिया है।३

राज्यं पृथिव्यां सर्वस्यामथवाऽपि त्रिविष्टपे।
तथा बुद्धिरियं वेत्ति बुद्धिरेव धनं मम ॥४॥

स्वर्ग में तथा सम्पूर्ण पृथ्वी पर मेरा ही अधिकार है यह मैं समझता हूँ और बुद्धि ही मेरा धन है ॥ ४ ॥

एकः पन्था ब्राह्मणानां येन गच्छन्ति तद्विदः ।
गृहेषु वनवासेषु गुरुवासेषु भिक्षुषु ॥५॥

एक पुरुष चाहे गृहस्थी, वानप्रस्थी, ब्रह्मचारी, या सन्यासी हो उसका एक ही मार्ग है । अर्थात् किसी आश्रम में भी रहता हुआ पुरुष ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त कर सकता है और यह ही एक कल्याण का मार्ग है ॥ ५ ॥

लिङ्गैर्बहुभिरव्यग्रैरेका बुद्धिरुपास्यते ।
नानालिंगाश्रमस्थानां येषां बुद्धिः शमात्मिका ॥६॥

वाह्य चिन्ह कुछ भी हो, वर्णाश्रम कुछ भी हो, किन्तु शम रूप बुद्धि की प्राप्ति ही मोक्ष का एक मात्र साधन है ॥ ६ ॥

ते भावमेकमायान्ति सरितः सागरं यथा ।
बुद्ध्याऽयं गम्यते मार्गः शरीरेण न गम्यते ॥
आद्यन्तवन्ति कर्माणि शरीरं कर्मबन्धनम् ॥७॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण नदियें एक सागर में आकर गिरती हैं उसी प्रकार सब कर्त्तव्य ज्ञान के आश्रित होते हैं। बुद्धि से ही परब्रह्म की प्राप्ति होती है शरीर से नहीं क्योंकि शरीर से उत्पन्न होने वाले कर्म अनित्य हैं । और शरीर कर्मो का कारण है ॥ ७ ॥

तस्मात्ते सुभगे नाऽस्ति परलोककृतं भयम् ।
तद्भावभावनिरता ममैवात्मानमेष्यसि ॥८॥

हे प्रिये-तुम मेरा अनुकरण करके ज्ञान प्राप्ति का ही यत्न करो जिससे तुम्हें जन्म मरण का भय न रहे ॥ ८ ॥

श्री ब्राह्मण गीता का अष्टादश अध्याय समाप्त ।

एकोनविंशति अध्याय

ब्राह्मण्युवाच—

नेदमल्पात्मना शक्यं वेदितुं नाकृतात्मना ।
बहु चाल्पं च संक्षिप्तं विप्लुतं च मतं मम ॥१॥

ब्राह्मणी बोली—हे पति देव आपने अत्यन्त सूक्ष्म तथा महान् ज्ञान का उपदेश मुझे संक्षेप में दिया है। इसे छोटी बुद्धि वाला तथा अकृतात्मा धारण नहीं कर सकता ॥ १ ॥

उपायं तं मम ब्रूहि येनैषा लभ्यते मतिः ।
तन्मन्ये कारणं त्वत्तो यत एषा प्रवर्तते ॥२॥

मुझे वह उपाय बतलाइये जिससे आप जैसी बुद्धि उत्पन्न हो २

ब्राह्मण उवाच—

अरणीं ब्राह्मणीं विद्धि गुरुरस्योत्तरारणिः ।
तपःश्रुतेऽभिमथ्नीतो ज्ञानाग्निर्जायते ततः ॥३॥

ब्राह्मण बोला हे प्रिय—बुद्धि एक लकड़ी है और गुरु दूसरी लकड़ी है तप और स्वाध्याय से जब इन दोनों लकड़ियों को रगड़ा जाता है तब मन रुपी अग्नि उत्पन्न होती है ॥३॥

ब्राह्मण्युवाच—

यदिदं ब्राह्मणो लिङ्गं क्षेत्रज्ञ इति संज्ञितम् ।
ग्रहीतुं येन यच्छक्यं लक्षणं तस्य तत्क नु ॥४॥

ब्राह्मणी बोली महात्मन्—लोग जीवात्मा को ज्ञानस्वरुप कहते हैं इसलिये कृपया यह बतलाइये कि किस प्रकार ज्ञान के द्वारा जीवात्मा परब्रह्म को प्राप्त करता है। और उसका क्या लक्षण है ॥४

ब्राह्मणउवाच—

अलिङ्गो निर्गुणश्चैव कारणं नास्य लक्ष्यते ।
उपायमेव वक्ष्यामि येन गृह्येत वा न वा ॥५॥

ब्राह्मण बोला—ब्रह्म अशरीरी निर्गुण तथा नित्य है उसकी प्राप्ति का वह उपाय बतलाऊंगा जिस के ज्ञान पूर्वक धारण से प्राप्ति और अज्ञानता से अप्राप्ति होती है ॥५॥

सम्यगुपायो दृष्टश्च भ्रमरैरिव लक्ष्यते ।
कर्म बुद्धिरबुद्धित्वाज्ज्ञानलिङ्गैरिवाश्रितम् ॥६॥

जैसे भौरों के उड़ने से इस बात का ज्ञान हो जाता है कि उस स्थान पर सुगन्धित मधु है । ऐसे ही श्रवण, मनन आदि उपायों द्वारा कर्म शोधित बुद्धि में ज्ञान को प्राप्त कर लिया है । अर्थात यदि एक पुरुष केवल श्रवण मनन आदि के ही आश्रय रहता है ज्ञान और कर्म का आश्रय नहीं लेता तो हजारों प्रयत्न करने पर भी वह सिद्धि को प्राप्त नहीं होता ॥६॥

इदं कार्यमिदं नेति न मोक्षेपूपदिश्यते ।
पश्यतः शृण्वतो बुद्धिरात्मनो येषु जायते ॥७॥

मोक्ष मार्ग में यह उपदेश नहीं दिया जाता कि यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य है । उस समय श्रवण और मनन से यह ज्ञान स्वयं ही उत्पन्न होता है ॥७॥

यावन्त इह शक्येरंस्तावन्तोंशान्प्रकल्पयेत् ।
अव्यक्तान् व्यक्तरूपांश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥८॥

इस लोक में पृथ्वी आदि जितने भी व्यक्त अथवा अव्यक्त पदार्थ हैं उसका प्रथक् प्रथक् यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥८॥

सर्वान्नानार्थयुक्तांश्च त्यक्तहेतुकान् ।
यतः परं न विद्येत अभ्यासे भविष्यति ॥९॥

सब पृथिवी आदि को उचित रूप से जान लेने पर सब से श्रेष्ठ परब्रह्म का सा निरन्तर अभ्यास के द्वारा होता है ९

श्रीभगवानुवाच—
ततस्तु तस्या ब्राह्मण्या नैः क्षेत्रज्ञसंचये ।
क्षेत्रज्ञानेन परतः क्षेत्रज्ञेभ्यः प्रवर्तते ॥१०॥

श्रीकृष्ण जी बोले—हे अर्जुन ! इस उपदेश को सुनकर ब्राह्मणी के हृदय में ब्रह्मज्ञान उत्पन्नहुआ । और ब्राह्मणी ने विषय वासनाओं का नाश करके परब्रह्म का प्राप्ति की ॥१०॥

अर्जुनउवाच—
क नु सा ब्राह्मणी कृष्ण क चासौ ब्राह्मणर्षभः ।
याभ्यां सिद्धिरियं प्राप्ता तावुभौ वद मेऽच्युत ॥११॥

अर्जुन बोला—वे श्रेष्ठ ब्राह्मण और ब्राह्मणी कौन हैं जिन्होंने इस प्रकार परब्रह्म की प्राप्ति की । वे दोनों इस समय कहां रहते हैं ॥११

श्रीभगवानउवाच—
मनो मे ब्राह्मणं विद्धि बुद्धिं मे विद्धि ब्राह्मणीम् ।
क्षेत्रज्ञ इति यश्चोक्तः सोऽहमेव धनंजय ॥१२॥

श्री भगवान बोले—हे अर्जुन ! इस सम्पूर्ण गीता में जिन ब्राह्मण और ब्राह्मणी का मैंने वर्णन किया है वह कोई पुरुष विशेष न थे किन्तु मेरा मन ही ब्राह्मण है और मेरी बुद्धि ब्राह्मणी है और ब्रह्मज्ञान का अधिकारी जीवात्मा मैं स्वयं हूँ ॥१२॥

श्री ब्राह्मण गीता का एकोनविंशति अध्याय समाप्त